उत्तर रामचरित नाटक

—सत्यनारायण 'कविरत्न'

* श्री *

भवभूति कृत

उत्तर-रामचरित-नाटक

(संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण)

अनुवादक

स्व० कविरत्न पं० सत्यनारायण शर्मा

सम्पादक

अध्यापक रामरत्न

पञ्चमवार

प्रतिहारी

मूल्य १)

नाटक के पात्र

पुरुष

रामचन्द्र—अयोध्या के सूर्यवंशी राजा

लक्ष्मण, शत्रुघ्न — राम के भाई

जनक—राम के श्वसुर, मिथिला-नरेश

अष्टावक्र—ऋषिश्रृङ्ग के शिष्य

शम्बूक—एक शूद्र तपस्वी

वाल्मीकि—एक ऋषि

सौधातकि, भाण्डायन — वाल्मीकि के शिष्य

कुश, लव — राम के पुत्र

चन्द्रकेतु—लक्ष्मण का पुत्र

सुमन्त—सारथी

विद्याधर—देव विशेष

स्त्रियाँ

सीता—राम की पत्नी, जानकी

वासन्ती—सीता की सहेली वनदेवी

आत्रेयी—एक ब्रह्मचारिणी

कौशिल्या—राम की माता

तमसा, मुरला, भागीरथी — स्त्री रूप में नदी विशेष

वसुन्धरा—पृथ्वी, सीता की माता

अरुन्धती—गुरु वशिष्ठ की पत्नी

विद्याधरी—देवी विशेष

दुर्मुख, कंचुकी, प्रतिहारी, लड़के, सैनिक, आदि

स्थान—अयोध्या, पंचवटी, जनस्थान, वाल्मीकाश्रम।

* श्री *

समर्पण

जिन का अश्रुत-पूर्व अनुग्रह वर्णनातीत है, जो मानव-शरीर
में प्रेम और दया के साक्षात् अवतार थे,
जिन से इस जन्म में तो क्या जन्मान्तर
में भी उऋण नहीं हो सकता,
उन्हीं वैकुण्ठ-वासी पवित्र-हृदय

श्री गुरुदेव

को

यह अकिञ्चन भेंट

सप्रेम सादर समर्पित है।

—सत्यनारायण

॥ श्री हरिः ॥

अनुवादक की भूमिका

कविवर भवभूति

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥ १ ॥

(आर्या सप्तशती)

महाकवि कालिदास की भाँति भवभूति का भी नाम, भारतवर्ष में ही नहीं समस्त भूमण्डल के विद्वानों में प्रसिद्ध है। इनके लेख प्रकृति और मानव-प्रकृति के सच्चे निरीक्षण तथा असामान्य ओजपूर्ण वर्णनात्मक चित्रण से परिपूर्ण हैं। कालिदास के समान इनका वंश-परिचय असम्भव नहीं है। इनके जीवन-काल की बहुत सी बातों का यद्यपि पता नहीं लगता तथापि अपने कुल-वृत्तान्त का भावी लोगों को पता देने का उन्होंने उपाय कर दिया है।

वंश तथा जन्म-स्थान का परिचय

स्वरचित नाटकों की प्रस्तावनाओं में सूत्रधार के मुख से उन्होंने जो अपने जन्मस्थान तथा वंश का परिचय दिया है, उसके

सिवा इस विषय में अधिक जानने का और कुछ उपाय नहीं है। आपने महावीर-चरित-नाटक के प्रारम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है। दक्षिण की ओर (विदर्भ देशान्तर्गत) पद्मपुर नामक नगर में कृष्णयजुर्वेदी तैत्तरीय शाखा के काश्यप-गोत्रीय, पंक्ति-पावन पञ्चाग्निपूजक सोमरस पान करने वाले उदुम्बर नामधारी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण रहा करते थे। उनके वंश में महाकवि नामक एक महानुभाव ने वाजपेय यज्ञ का अनुष्ठान किया था, इसी कुल में गोपाल भट्ट ने जन्म ग्रहण किया और उनके पवित्र कीर्त्ति नीलकण्ठ हुए। यही नीलकण्ठ श्रीकण्ठपद-सम्पन्न कवि भवभूति के पिता थे। इनकी माता का नाम जातु-कर्णी × तथा गुरु का नाम ज्ञाननिधि था।

उक्त लेख से ज्ञात होता है कि भवभूति कहीं बरार के आस-पास के रहने वाले थे। दण्डकारण्य तथा गोदावरी नदी के मनोहर मनोज्ञ वर्णन से इस मत की भलीभाँति पुष्टि होती है।

समय

यह किस समय हुए इसका जानना कठिन है, क्योंकि अपने नाटकों में इन्होंने कहीं तिथि संवत् आदि नहीं दिया है और न इनकी जन्मतिथि आदि का कुछ पता है। इसका पता केवल अनुमान से चल सकता है।

१—संस्कृत के पण्डितों में एक दन्तकथा प्राचीन काल से प्रचलित है कि जब भवभूति ने अपना उत्तर-रामचरित-नाटक

× पाठान्तर—जतुकर्णी

कालिदास को सुनाया तो उसे सुनकर वह अत्यन्त विस्मित हुए और आनन्दमग्न हो उसे माथे पर रख कर धन्य-धन्य कहने लगे। उन्होंने केवल प्रथम अंक के सत्ताईसवें श्लोक के अन्तिम-चरण 'अविदित गतयामा रात्रिएवं व्यरंसीत्' में भवभूति को सूचित किया "एवं" पद के स्थान में "एव" पद प्रयुक्त किया जाय तो अर्थ विशेष शोभाप्रद होगा। सुना जाता है कि उन्होंने इसे स्वीकार किया और अवतक उक्त श्लोक में वही पाठ चला आता है। इस मनोरञ्जक कथा में कोई बात असम्भव नहीं जान पड़ती क्योंकि इस नाटक की योग्यता ऐसी ही है कि शकुन्तला-नाटक लिखने वाला भी उसे शिरोधार्य करे। साथ ही कालिदास की विशाल बुद्धि तथा निरभिमानता का भी अच्छा परिचय मिलता है।*

इस किम्वदन्ती के अनुसार बहुतेरे लोग भवभूति को कालिदास का समकालीन मानते हैं; किन्तु इसके विरुद्ध प्रचुर प्रमाण हैं:—

१. प्रथम तो कालिदासकी कीर्त्ति प्राचीनकाल से ही आबाल-वृद्धों को विदित है और भवभूति को केवल पण्डित लोग ही जानते हैं। यदि वह कालिदास के समय में हुए होते तो जिन लोगों ने शकुन्तला तथा विक्रमोर्वशी की प्रशंसा की है उन लोगों ने उत्तर-रामचरित और मालती-माधव की प्रशंसा भी की होती।

दूसरे कालिदास के समय की सरल स्वाभाविक रचना-शैली से भवभूति का रचना-क्रम बहुत ही भिन्न है।

---

* चिपलूणकर।

तीसरे भवभूति के नाटकों में कालिदास के ग्रन्थों को अनुलक्षित कर लिखे हुए कुछ स्थल भी पाये जाते हैं।

२. राजतरंगिणी के मतानुसार भवभूति का सम्बन्ध कन्नौज के महाराज यशोवर्मा के दरबार के साथ था, जो उस समय भारतवर्ष में विद्या का केन्द्रस्थल था। यहीं भवभूति ने निस्सन्देह काव्य और नाटक के नियम सीखे, जिनके कारण उनकी बुद्धि का प्रकाश और भी विशद रूप से हुआ। किन्तु उनके भाग्य में कन्नौज का रहना नहीं था, क्योंकि यशोवर्मा को काश्मीर के प्रतापी राजा ललितादित्य ने पराजित किया और उसके साथ उन्हें काश्मीर जाना पड़ा।

कविर्वाकपतिराजश्री भवभूत्यादि सेवितः
जितःययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्।

राज. ४. १४४.

— इस श्लोक में ललितादित्य के प्रताप का वर्णन किया गया है और वाकपति का भी नाम आता है जो भवभूति के साथ ही साथ कन्नौज दरबार की शोभा बढ़ाते थे। इन्होंने निज चरित 'गोडवहो' नामक प्राकृत-भाषा के ग्रन्थ में भवभूति का नाम दिया है।

(प्राकृत) भवभूइ जलहि निग्गय कव्वा मय रस कणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहा पवन्धेसु॥

जनरल कनिंघम के मतानुसार ललितादित्य का राज्य-काल सन् ६९३ से ७२९ पर्य्यन्त है। इसी प्रमाण से डॉक्टर भाण्डारकर प्रभृति भवभूति का समय सातवीं शताब्दी के आदि में ठहराते हैं।

३. श्रीहर्षचरित्र की प्रस्तावना के आदि के श्लोक में उसके रचयिता बाण कवि ने (जिनका समय सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होना निश्चय है) अपने से पूर्व अन्य कवियों का तो वर्णन किया है किन्तु भवभूति के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है।

४. भवभूति की भाषाशैली से उनका आठवीं शताब्दी में होना पुष्ट होता है क्योंकि बाण श्रीहर्षादि तदनन्तर के कवियों ने लम्बे लम्बे समासों की कृत्रिम रचना-प्रणाली जो धीरे धीरे प्रचलित की वही उनके नाटकों में जहाँ-तहाँ पर लक्षित होती है। इसलिए शैलीक्रम के अनुसार भवभूति को कवि सुबन्धु, दण्डी और बाण की श्रेणी में परिगणित करना तथा उसी समय के आसपास उनके प्रादुर्भाव को मानना अधिक संयुक्तिक जान पड़ता है। इन सब बातों से अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास के पीछे ही भवभूति हुए होंगे क्योंकि जब उस कविकेशरी की गर्जना शेष हो जाने पर चारों ओर सन्नाटा छा गया और लोगों को जान पड़ने लगा कि अब पुनः वैसी गर्जना का होना कठिन है तब पहले का स्मरण दिलाने वाले सुतरां उससे भी कहीं प्रचंड दूसरे की गंभीर गर्जना कर्ण-कुहर में प्रविष्ट होने लगी, यह बात वास्तव में अधिक चमत्कार-जनक मालूम पड़ती है।

भवभूति

कवि के हृदय की परीक्षा तत्प्रणीत ग्रन्थों तथा तदधिकृत विषयों से ही हुआ करती है। कविहृदयनिर्गतभावमालिका का आस्वादन करने के पूर्व उसके ही विषय में परिज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है।

१. आत्मश्लाघा—उत्तर-राम-चरित नाटक में पहले ही आत्म-श्लाघा मिलती है—"बचन के बस जासु सरस्वती करति काज मनो निज भामिनी" (अ० १ श्लो० २) आपने अपने कुल का परिचय सूत्रधार के मुख से दिलाते हुए अपने पदवाक्यप्रमाणज्ञ होने की प्रशंसा कराई है। इस प्रकार का परिचय उसे उक्त दोष से दूषित करता है किंतु तनिक विचार करने पर ज्ञात हो जायगा कि यह विचार सर्वथा यथार्थ नहीं है। यह माना कि अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना उचित नहीं है, तथापि संसार के बड़े बड़े ग्रन्थकारों ने जो अपना अपना जीवन-चरित्र स्वयं लिखा है उसके लिए उन्हें कोई दोष नहीं देता, सुतरां वे जीवन-वृत्तान्त होने के कारण बड़े आदर की वस्तु समझे जाते हैं और लोग उन्हें बड़े चाव से पढ़ते हैं। जिस प्रकार समर-भूमि में महान वीरों की वीरोक्तियों से आत्मश्लाघा संयुक्त होने पर भी सुनने वालों का जी उकताता नहीं है वरन् वे उसे बड़े उत्साह के साथ श्रवण करते हैं, ठीक उसी भाँति रसिक जन भी जगत्-पूज्य कवीश्वरों की आत्मदर्पोक्ति पर बहुत ही रीझते हैं। वे उन्हें बार बार पढ़ते हैं कभी तृप्त नहीं होते; जब-जब उन्हें पढ़ते हैं तब-तब अधिकाधिक तन्मय होते जाते हैं।

इसके सिवा दूसरी बात यह भी है कि जिस किसी को गुणवान गुणग्राहकों द्वारा पहले ही आदर-सम्मान प्राप्त हो चुका है तब उसे आत्मश्लाघा के आश्रय की आवश्यकता नहीं रहती। गुणी लोग सत्परीक्षकों की प्रशंसा से संतुष्ट हो अपने परिश्रम को सफल मानकर स्वस्थ रहते हैं, पर जब ऐसा नहीं होता, अर्थात् गुण की चाह नहीं होती किंतु उलटा उसका उपहास और अपमान होता है; "नैसर्गिकी

सुरभिणःकुसुमस्य सिद्धा मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि'' वाले नियम को भूलकर जब लोग किसी प्रचंड ग्रन्थकार की अवज्ञा किया चाहते हैं तब उस स्वापमान की घोर यंत्रणा से व्याकुल हो कर उसे अपनी योग्यता प्रदर्शित करने के लिए आत्मप्रशंसा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं सूझता। भवभूति को भी यही दशा हुई होगी; आत्मकवित्व का उन्हें बड़ा दृढ़ विश्वास था, उनका यह सुदृढ़ निश्चय, निन्दकों की अवज्ञा व अपने ग्रन्थों की यथेष्ट ख्याति न होने से अथवा इस भय से कि कदाचित वे नष्ट न हो जायँ, किंचित् भी न हटा। अपने समय के लोगों की निन्दा से हतोत्साह न हो उन्होंने भावीकाल ही पर भरोसा रक्खा और ''भविष्य में सत्कृति अभिनन्दित होगी'' यह उन्होंने भविष्य कथन किया (चिप०) इसका प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप उन्हीं का बनाया एक श्लोक उद्धृत किया जाता है:—

''ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्तु ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि* समानधर्मा,
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।''

(मालती-माधव नाटक)

अस्तु, इससे यही प्रतिपादित हुआ कि महान् ग्रन्थकारों के आत्म-विषयक लेख दूषणार्ह नहीं हैं किन्तु परमोपयोगी हैं; इन्हें आत्मश्लाघा न कह कर आत्मगौरव कहना अधिक उचित मालूम होता है क्योंकि आत्मयोग्यता के ज्ञान पर ही इसकी निर्भरता है।

* पाठान्तर—''उत्पत्स्यतेममतुकोऽपि''

२. कर्त्तव्यपरायणता—इस सद्गुण का तो इनमें इतना प्राचुर्य है कि उसे पूर्ण करने की धुन के आगे यह लोगों के कहने-सुनने का कुछ भी विचार नहीं करते। समालोचकों की प्रचण्ड-वचनबाणावली से इनका आत्मशासन यत्किंचित् भी नहीं डिगमिगाता। अदम्य उत्साह के साथ निःस्वार्थ भाव से सत्कर्त्तव्य क्षेत्र में निर्भय अग्रसर होना ही उनका एकमात्र जीवनोद्देश्य है। आपके सूत्रधार ने कहा भी है:—

चूक चाकरी में कबहुँ, करनी चहिए नाहिं।
सब प्रकार निरदोस कहु, को पदार्थ जगमाहिं॥
कुटिल मनुज सों रहि सकत, को जग में निरसंक।
सद्बनिता कवितान में, जो नित लखत कलंक॥

प्रधान नायक मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र को कवि ने निःस्वार्थ कर्त्तव्य-परायणता की कैसी सजीव मूर्त्ति बनाकर दिखलाया है यह उसके पठन-पाठन करने से ही विदित हो सकेगा।

३. हृदय की कोमलता—कर्त्तव्य-पालन के साथ उनके हृदय में कोमलता का विकास भी भलीभाँति परिलक्षित होता है। किसी का दुख देखा नहीं कि इनका मन द्रवीभूत हुआ नहीं। जनक के मिलने पर जब कौशिल्या चेत-रहित हो गई हैं उस समय कवि से नहीं रहा गया और अरुन्धती के मुख से कहलवा ही दिया "पुरंध्रीणां चेतः कुसुमसुकुमारं हि भवति" कई स्थलों पर रामचन्द्र के कोमल हृदय का चित्र खींच कर इन्होंने मृदुल-स्वभाव का परिचय दिया है।

४. सुहृदता—चाहे कुछ भी उपकार न करे किन्तु ये अपने सुहृद को अलौकिक वस्तु समझते हैं । गद्गद् भाव से पूरित होकर आपने कहा कि—

"वरु कछु न करै तउ सर्वदा; बसि समीप सबै विपदा हरै ।
सुहृद जो कहुँ जासु जहान में, अवसि सो तिहि जीवन-मूरि है ॥"

(६-५)

५. सहृदयता—कवि का प्रधान गुण सहृदयता है। हृदय की शृंगार, वीर, करुणादि जो भिन्न भिन्न वृत्तियाँ हैं वे उसे अत्यन्त सूक्ष्म एवं स्पष्ट रूप से अनुभूत होनी चाहिएँ । उक्त भिन्न भिन्न वृत्तियों का विषय इन्द्रियगोचर होते ही कवि का मन क्षुब्ध हो जाता है और उस क्षुब्धता के आवेग में उसके मुख से जो बातें निकलती हैं वही यथार्थ कविता है । तात्पर्य यह है कि कवि का हृदय ऐसा होना चाहिए जिसमें भिन्न भिन्न मनोवृत्तियाँ पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हो जायँ । यह नियम भवभूति की कविता में सर्वत्र चरितार्थ हो रहा है, उसका मन अत्यन्त निर्मल एवं प्रेमी है वैसे ही स्वभाव नितांत सरल अथच गम्भीर होने के कारण जिस प्रसंग का श्लोक देखिये मानो रस उस से टपका पड़ता है । इससे विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए उत्तर-राम-चरित नाटक में राम-वासंती-सम्वाद, लव-चन्द्रकेतु-वार्त्तालाप तथा राम-लव-कुश सम्मेलन आदि का वर्णन पढ़ना उचित प्रतीत होता है ।

६. मन की शुद्धता—बहुतेरे यूरोपियन विद्वान संस्कृत कविता को यह दोष लगाते हैं कि उसमें शृंगार का उद्भव शुद्ध प्रेम रस से किया हुआ नहीं पाया जाता, किन्तु अधिकांश में वह काम-

वासना से प्रकट हुआ पाया जाता है। यह कथन हठवादियों के मतानुसार किसी अंश में यथार्थ भी है। क्योंकि प्राचीन कविगण स्वानुभूत बातों तथा मनोवृत्तियों का वर्णन किया करते थे, पर क्रमशः जब कीर्त्ति या धन के लोभ से काव्य रचने की प्रथा चलपड़ी और कविता बनाना एक नियमित व्यवसाय ही हो गया, तब से कवियों को स्वानुभव की कोई आवश्यकता नहीं रही। अपने आश्रयदाता भूपाल की रुचि के अनुसार उनकी काव्य-कला, नर्त्तकी की भाँति नाचने लगी। इस प्रकार संस्कृत-कविता का आद्य शुद्ध-स्वरूप जब से भ्रष्ट होने लगा तब के बहुतेरे काव्य, और अब इधर जिनकी प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई गई वे बीभत्स भाणादि (नाटक-का भेद) अलबत्ता उक्त दोष से दूषित हो सकते हैं। यदि यही एक बात होती कि उक्त दोष अकेली संस्कृत कविता ही में पाया जाता है तो भी कुछ कहना न था। पर क्या उक्त दोष ग्रीक और रोमन लोगों की कविता में नहीं पाया जाता? अथवा इतने दूर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्या कोई कह सकता है कि अँग्रे़ज़ी भाषा का रस-सर्वस्व जिसमें एकत्रित किया गया है वह शेक्सपीयर कवि का कविताकलाप उक्त दोष से सर्वथा मुक्त है? यदि यह बात ऐसी ही है, तो कुटुम्ब के लोगों के; अर्थात पुरुष, स्त्री, लड़के आदि सब के एकत्र पढ़ने योग्य उस कवि की संक्षिप्त आवृत्ति अलग अलग क्यों निकलती हैं!

जो लोग पूर्व-देशीय भाषाओं के काव्य तथा निर्बन्ध-रहित-शृङ्गार वर्णन का परस्पर नित्य-सम्बन्ध मानते हैं उन्हें उचित है कि वे हमारे भवभूति के नाटकों का पर्यालोचन करें।

ठकुर-सुहाती न कहने के कारण अथवा वैसा करने को नीचता और अधमता समझने के कारण भवभूति लक्ष्मी के कृपापात्र न बन सके। उनके गंभीर एवं उदार मन को राजाश्रित होकर विभवानुभव करने की अपेक्षा दरिद्रावस्था ही में स्वतंत्र रहकर अपनी वाग्देवी को निष्कलंक रखना अधिकतर अभीष्ट होगा ऐसा बोध होता है। किसी राजदरबार से उनका यथावत् सम्पर्क न रहने के कारण उनके मन की आद्यावस्था में कदापि अन्तर नहीं पड़ा और हम समझते हैं कि यही कारण है कि उनके शृङ्गार-वर्णन में ऐसी अपूर्व कोमलता, प्रौढ़ता तथा शुद्धता दृष्टिगोचर होती है।

७. विद्वता—अपने समय के बड़े बड़े पण्डितों में उनकी धाक जमी हुई थी। पदवाक्यप्रमाणज्ञ श्रीकंठपदलाञ्छनादि उपाधियों से तत्कालीन विद्वन्मण्डली द्वारा उनका मान किया गया था। उनकी रचना से भली भाँति प्रगट होता है कि वे व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि षट्दर्शनों के अच्छे पारदर्शी थे। इस नाटक में स्थल स्थल पर विवर्तवाद उनके वेदान्त-शास्त्र के ज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वैराज और असूर्य लोकों के वर्णन से उपनिषदों पर उनका अधिकार विदिति होता है। इसमें सन्देह नहीं कि भवभूति अपने समय के असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान होगये हैं और इसी कारण संस्कृत-साहित्य में वे महाकवियों में परिगणित किये जाते हैं। इनकी विलक्षण शैली ही से इनका विद्याभिमान टपका पड़ता है।

८. सामाजिक विचार—और जैसे हिन्दू आचार्यों की भाँति इनका हृदय संकीर्ण नहीं था। इनके ग्रन्थों के पठन-पाठन से ही

इनके उच्च उदार भावों का पता लगता है जहाँ हिन्दू समाज के विश्वासानुसार स्त्री और शूद्र को पढ़ना ही नहीं चाहिए वहाँ इनके नाटकों में सब स्त्रियाँ पढ़ी हुई मिलेंगी और शूद्र भी ऐसा ज्ञानवान निकलेगा जिसका विनम्र वाक्य "सत्संगजानि निधनान्यपि तारयन्ति" स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इस नाटक में स्त्री जाति के भिन्न भिन्न सम्बन्धों का बड़ी उत्तमता से वर्णन किया गया है। कहीं पुत्री जानकी पिता जनक के चले जाने से शोकाकुल है, कहीं प्राणेश्वरी सीता का अनुपम चित्र खींचा जा रहा है, कहीं ब्रह्मचारिणी आत्रेयी वाल्मीकि के आश्रम से वेदाध्ययन के लिए अगस्त्याश्रम को जा रही है, कहीं कौशिल्या माता, सास और समधिन बन कर आती है और भगवती अरुन्धती विदुषी और तपस्विनी के नाम को पूर्णतया चरितार्थ कर रही है। इसके पढ़ने से ठीक ज्ञात हो जायगा कि भवभूति स्त्रियों को कितने सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। उनके विचार में स्त्रियाँ न केवल प्रेम की प्रतिमा और सुख की मूर्त्ति ही हैं वरन वे आदर की सामग्री और पूजन के योग्य हैं। *

राजर्षि जनक के मुख से अरुन्धती का अभिवादन कराते हुए कवि ने उपरोक्त विचार की पुष्टि की है (अंक ४—श्लोक १०)। इनके विचार में चाहे स्त्री हो चाहे शूद्र—बालक हो चाहे बूढ़ा यदि वह गुणी हो तो उसका गुण सर्वदा अवश्य आदरणीय है।

"केवल गुनी को गुन पुजत, नहिं रूप अरु नहिं बैस है"

(अंक ३—श्लोक ११)

---

* (मन्नन द्विवेदी)

इनके ग्रन्थों से विदित होता है कि तब तक स्त्री-शिक्षा पाप नहीं मानी गई थी और न पर्दे ही का प्रचार था। आजकल की कपट मिश्रित चुनाचुनी के ढंग की मेहमानदारी न होते हुए भी लोगों का जीवन पवित्र था। ऐसे ही स्वभाव के कारण उन विविध लोकोत्तरचरितातिशयआकारानुभाव‡गाम्भीर्य्य संभाव्यमान आर्य्य महापुरुषों को देखते ही लव जैसा उद्दण्ड वीर बालक मन्त्र-मुग्ध-सा होगया था। कहीं जनक को सीता निर्वासन पर क्रोध आ भी गया तो वह दूध के झाग की तरह शीघ्र ठंडा होगया। इस नाटक में बालक भी आजकल जैसे दुर्बोध, लज्जाशील व डरपोक नहीं हैं; वे भी दर्प व सौजन्य का यथोचित बर्ताव करना जानते हैं। आत्म-गौरव की यथोचित रक्षा करना ही उनका मुख्य-उद्देश्य है।

लव और चन्द्रकेतु के मिलने का बहुत अच्छा वर्णन किया गया है। वह दोनों वीर युवा हैं जिनमें युद्ध का उत्साह भरा है, परन्तु वे एक दूसरे के साथ वीरोचित सुशीलता और सम्मान दिखलाते हैं। यह ध्यान रहे कि यह नाटक यूरोप में वीरता की उन्नति (Chivalry) होने के कई शताब्दी पहले लिखा गया था। भवभूति की सच्चे ब्राह्मणों में बड़ी श्रद्धा थी, उनका विश्वास था कि—

"ब्रह्मज्योति को तत्व जिन, प्रकट कियो अभिराम।
तिन विप्रन के वचन में, नहिं संशय को काम॥
श्री जिन्ह बानी माहिं, बसति सदा मंगल करनि।
निहचै करि, सो नाहिं, मृषा सबद एकहु कहत॥" (४-१८)

---

‡ चहरे पर दिव्य तेज वाले।

भवभूति ढोंग रचने वाले लफंगे बाबाजियों को भी खूब जानते थे, और प्राचीन ऋषि-मुनियों को उनसे अलग समझते थे। यदि समाज में कोई कुरीति प्रचलित है तो भवभूति उसे छिपाना अच्छा नहीं समझते थे। "शास्त्रानुसार मांस खाना चाहिए या नहीं", इसी बात को इस नाटक के चतुर्थ अंक के विष्कम्भक में दो चेलों में वाद-विवाद कराकर दिखा दिया है। सौधातकि के मुँह से मांसाहारियों को व्याघ्र व भेड़िया तक कहलवाया है। भाण्डायन स-मांस मधुपर्क का विधान वेदों तथा धर्मसूत्रों में बतलाता है और उनका प्रमाण भी देता है। बहुतों के मतानुसार इस जगह भवभूति ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है (जैसे महोक्ष, महाज) उनके बहुधा कई कई अर्थ किये जाते हैं। कुछ भी हो किन्तु उक्त वाद विवाद तथा मतभेद आजकल की घास-पार्टी तथा मांस-पार्टी वालों से खूब मिलता है।

६. राजनैतिक विचार—अनादि काल से राजसत्ताधिकार रहने के कारण भारतवर्ष को इस प्रकार की शासन-प्रणाली का अभ्यास होगया है। यहाँ के लोगों के चित्त में, राजा ईश्वर के अवतार के तुल्य बैठा हुआ है। ऐसे देश, काल तथा भावों की ऐसी स्थिति में उत्पन्न होते हुए भी भवभूति प्रजातंत्रिक विचारों के विदित होते हैं। जिस प्रकार ग्रीस के प्राचीन प्रारम्भिक इतिहास में वहाँ के देशभक्तों की सम्पूर्ण चेष्टा प्रजा-हित-कामना में सफल प्रयत्न होने की रहा करती थी, ठीक उसी प्रकार के नहीं उन से भी कहीं उच्चतर-उदार भावों का विकास भवभूति ने अपने पात्रों से मनसा-वाचा-कर्मणा एवं सम्पूर्ण रूपेण

कराया है। केवल रामचन्द्र जी ही प्रजा के सन्तुष्ट करने की चेष्टा में अपना सर्वस्व न्योछावर करने को उद्यत नहीं हैं (अंक १-१२) वरन जिनके बुद्धिबल से राजकाज चलता था और जिनको किसी प्रकार के स्वार्थ साधने की कामना नहीं थी उन्हीं रघुकुल के आचार्य कुलगुरु वशिष्ठ की राम के लिए आज्ञा थी कि:—

"तुव धर्म निज प्रजानुरंजन निज प्रमाद बिहाय।
तज्जनित-यस-धन प्रचुर ही रघुबंस की प्रभुताय॥"

(१-११)

इनकी आज्ञा का श्री रामचन्द्र जी ने अक्षर अक्षर पालन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक सामाजिक समालोचकों की दृष्टि में राम का सीता-निर्वासन कार्य अमानुषिक प्रतीत होता है, किन्तु यदि प्रजानुरंजन कर्त्तव्यकर्म की प्रधानता को—जिसका उल्लेख कवि ने राम के मुख से कराया है—निरपेक्ष-भाव से विचारा जाय तो राम क्षन्तव्य हैं। लोकमत को उल्लंघन करने का संकल्प राम को स्वप्न में भी नहीं होता। राम जानते हैं कि जब राजोपचार प्रबल होता है तभी प्रजा कातर-कण्ठ से अपनी सच्ची सम्मति का उद्गार उगलती है। पीड़ित प्रजा की उस निस्स्वार्थ सम्मति के अनुसार कार्य करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

(तुलसीदास)

राजनैतिक विचारों में ऐसे धार्मिक विचारों का नियोजित करना युक्तियुक्त है या नहीं इसके निराकरण कार्य से इस विषय का विशेष सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इतना अवश्य कहना

पड़ता है कि उस समय के राजाओं की शासन-प्रणाली उक्त प्रकार के गुण व दोष से (आजकल के समालोचकों की समझ में जैसा कुछ हो) अवश्य प्रयुक्त रहती थी। ऐसा संस्कार उनके हृदय में वंशपरम्परा से ही अंकुरित होता रहता था। उस समय की शिक्षा-शैली ऐसा उपदेश देती थी।

जो लोग सती सीता के दुःख से कातर होकर राम को यह दोष लगाते हैं कि उन में मानसिक बल नहीं था क्योंकि ऐसी छोटी छोटी बातों में प्रजा को सन्तुष्ट और प्रसन्न करने के लिए उन्होंने इतनी उग्र उत्कण्ठा प्रकट की थी। ऐसा समझने वाले अपनी अनुदार आलोचना से महाराज मर्यादापुरुषोत्तम राम के अनुपम आत्म-त्याग के सौन्दर्य को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। राम स्वयं जानते थे कि सीता निर्दोष है और उन्होंने उस निरपराधिनी को देशनिकाला देकर घोर घृणित कार्य किया है। उनके ही विलाप से यह विदित होता है और वह आत्म-ग्लानि की अन्तरानल में कितना जलते थे यह पद पद पर प्रकट होता है। इन्होंने सीता निर्वासनजनित-पाप का प्रायश्चित अपने विलापों से किया है। कवि ने तमसा के मुख से ठीक कहलाया है कि:—

"उपटि पूर्ण तड़ाग जबै भरे, जल निकासन तासु प्रतिक्रिया।
बिपुल सोक-दसा-मधिहू तथा, रुदन धीरज को सदुपाय है‡॥"

(३–२९)

‡ Give sorrow words; the grief that does not speak,
Whispers the over-fraught heart and bids it break.
—Shakespeare

अस्तु जब हम नृप-कर्त्तव्य-पालन कसौटी पर राम के सीता निर्वासन-कार्य की परीक्षा करते हैं तो उनके अद्भुत आत्मत्याग और अनुपम धीर गम्भीर उदार भाव के अनन्त पारावार में उक्त भ्रमात्मक कलङ्क-कालिमा अनन्त बार धुल जाती है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है—कि प्रजानुरञ्जन कार्यों से राम को जी भरकर रोने का भी तो अवकाश न मिला। चाहे कैसे ही घोर शोक का समय हो राम ने कर्त्तव्य-पालन को ही प्राधान्य दिया है। जब उन्होंने सुना कि यमुना-तट पर तप करने वाले तपस्वियों को लवणासुर ने सताया है तो राम सब रोना-धोना भूल गये और उस असुर के वध का प्रबन्ध करने में जा लगे। फिर एक ब्राह्मण ने एक मरा लड़का राजद्वार पर पटक कर ज्योंही दुहाई मचाई और आकाशवाणी हुई उसी समय राम ने अपने शोक को भूलकर शम्बूक के मारने के लिए प्रस्थान कर दिया। इन बातों से भलीभाँति प्रकट है कि प्रजाहित के लिए राम अपने सुख-दुख की कुछ भी पर्वाह न करते थे।

राम का करुण-क्रन्दन-कलाप इस बात का साक्षी है कि सीता को निकालने में राम की कितनी प्रवृत्ति थी, किस धर्मसंकट में फँस कर राम से यह काम बन पड़ा था। आधुनिक समाज-सुधारकों के शुष्क वाद-विवाद तथा व्यर्थ तर्क-वितर्क में पड़ कर देश-काल की परिवर्तित दशा को प्राचीन पूर्व स्थिति में ठेल कर छिद्रान्वेषण करना अपने प्रधान लक्ष्य से भटक जाना है। भवभूति के राम ने अपने जीवन में "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि-

कुसुमादपि" को चरितार्थ किया है। कवि-कल्पित उनका चित्र स्वाभाविक है। राम वीर हैं, पराक्रमी हैं, प्रजापालक हैं—लेकिन सबसे पहले आदर्श पुरुष हैं। धीरोदात्त * नायक के सम्पूर्ण लक्षणों ने उनमें आश्रय पाया है। नेता × के सब गुण रामचन्द्र जी में विद्यमान हैं और इन्हीं नमूनों को सामने रखकर भवभूति ने राम का चरित्र चित्रण किया है। तथापि भवभूति वासन्ती के मुख से सीता-निर्वासन के लिए राम पर कटु तथा नम्र संकेतों की विकट बौछार कराता है। यह सब कुछ करते हुए भी विचारे भवभूति अपना कवि-कर्त्तव्य पालन करने में कहाँ तक सफलप्रयत्न हुए हैं, इसका निर्णय केवल विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ा जाता है।

१०. प्रकृति-वर्णन—जिन किन्हीं वस्तुओं का वर्णन करना हो उनका साक्षात् अनुभव कवि के लिए आवश्यक है। पहले तो बड़े बड़े कवियों में भी प्रायः यह सामर्थ्य नहीं पाई जाती कि उनके वर्णन यथार्थ बन सकें अर्थात् उन पदार्थों के साक्षात्कार से जो कल्पना मन में आती है वह केवल वर्णन पढ़ने से मन में कदापि आविर्भूत नहीं होती। जब इन वर्णनों की ही ऐसी दशा

---

* महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाऽहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥

× नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्विताः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

हैं तो इनकी प्रतिकृति में यथार्थता और रस कहाँ तक रह सकते हैं इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। इस प्रकार की त्रुटि से भवभूति के नाटक अधिकांश में दूषित नहीं हैं। केवल इनका ही सृष्टि-विभव-वर्णन आधुनिक अँगरेज़ कवियों की सजावट के ढंग पर है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि संस्कृत के और कवियों ने सृष्टि-पदार्थों का वर्णन लिखा ही नहीं, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन कवियों का ढंग निराला है, उनके वर्णन में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं निश्चित बातें कभी छूट नहीं सकतीं। जिन्हें पढ़कर यह शंका स्वभावतः उत्पन्न होती है कि उनमें से बहुतेरों ने अपने वर्णित प्रकृति-दृश्यों का स्वयं अनुभव कदापि नहीं किया, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ कर वैसा लिख दिया है। किन्तु भवभूति ऐसे कवियों में न थे। उपमा और प्रकृति वर्णन यद्यपि कालिदास का सबसे अनूठा है किन्तु वर्णन में उस वस्तु का रूप आँख के सामने खड़ा कर देना भवभूति ही जानते थे। उत्तर-राम-चरित में आश्रम, तपोवन, पर्वत, गुल्मलता आदि का ऐसा अद्भुत वर्णन किया गया है जैसे यह सब पढ़ने वाले के सामने ही हैं। मालती-माधव में श्मशान का वर्णन पढ़ने से रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। उन्होंने जो स्थान स्थान पर प्रकृति के उत्तमोत्तम वर्णन लिखे हैं उन्हें कवि-कपोल-कल्पित व अयथार्थ कहना युक्तियुक्त नहीं है। इससे यही प्रकट होता है कि प्रकृति देवी के भाँति २ के मनोहर दृश्यों को अवलोकन करने का भवभूति को प्रकृतिजात परमोत्साह था। दण्डकारण्य, जनस्थान, पञ्चवटी, गोदावरी नदी के स्वच्छ स्वाभविक वर्णन

इसके साक्षी हैं। बिना अनुभव के कोई कैसे ऐसे वर्णन कर सकता है? (चिप०)

उनके ग्रन्थ

इनके बनाए तीन नाटक हैं—(१) मालती-माधव*, (२) महावीर चरित, (३) उत्तर-राम-चरित। साहित्य-महोदधि के इन तीनों रत्नों का जिसने आनन्द नहीं लिया उसके लिए काव्य का पठन-पाठन व्यर्थ ही है। कवि भवभूति की सरस्वती मानों अपनी तीन धाराओं से तीन नाटकों के आकर में बही है। कुरुक्षेत्र के समीप सरस्वती एक ही धारा में थोड़ी दूर बह कर लोप होगई है किन्तु भवभूति की प्रतिभा के उद्‌गार में वह अविच्छिन्न त्रिःस्रोत हो बहती ही चली गई है। मालती-माधव में शृङ्गार रस के रूप में, महावीर-चरित में वीरता का रूप धर कर और उत्तर-राम-चरित में करुणारस के प्रवाह में। इस तरह यह समस्त विदग्ध मण्डली को तीन प्रकार के रस से आप्यायित और आप्लावित कर रही है। साहित्यदर्पणकार "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। वह ध्वनि भवभूति की कविता में पद पद पर टपकी पड़ती है। यही कारण है कि काव्यप्रकाश, सरस्वती कण्ठाभरण, वाग्भट्टालंकार आदि साहित्य के प्राचीन ग्रंथों और कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा, साहित्यदर्पण आदि नवीन ग्रन्थों में भवभूति के श्लोक बहुधा उदाहरण की भाँति उद्धृत किये गये हैं।

---

*पं० सत्यनारायण कविरत्न कृत मालती-माधव का हिन्दी अनुवाद रत्नाश्रम आगरा से मिल सकता है।

जैसा प्रसादगुण कालिदास के काव्य में भरा है वैसा ही ओजगुण पूर्ण ध्वन्यात्मक नई नई उक्ति-युक्ति भवभूति की कविता में, अधिकतर उत्तर-राम-चरित में है। इसकी विचित्र रचना से मुग्ध होकर कोई कोई सहृदय साहित्य-मर्मज्ञ उन्हें कालिदास से बढ़ाचढ़ा मानते हैं। "उत्तरे राम चरिते भवभूतिर्विशिष्यते"* उनका यह कहना अधिकांश में बहुत ठीक है। इनका शृङ्गार तथा वीर रस वर्णन तो किसी भी संस्कृत कवि से कम नहीं है और करुणारस के वर्णन में तो भवभूति संस्कृत के सब कवियों से बढ़ गये हैं, यह बात प्राचीन काल से ही चली आती है। इनकी रचना में जो ओजस्विता और भाव की सचाई है उसका पता तो उन्हीं को लगता है जो मूल में इनकी कविताओं को पढ़ते हैं। मधुर छंद गूँथने में भवभूति अद्वितीय थे। जिस अर्थ-गौरव, भावों की समयोचित सत्यता तथा भाषा के मनोमुग्धकारी माधुर्य के साथ यह कथीन्दु हार्दिक भाव का आदर्श सारगर्भित अक्षरावली में खींचते हैं कदाचित् उसे देख कर इनके प्रत्येक पद्य को सचित्र भाव कहने में अत्युक्ति नहीं होगी। उन्हें पढ़ने से इनकी कवित्वशक्ति का, चमत्कारिणी प्रतिभा का और असली कविता का कुछ पता चल सकता है। उनकी वाणी को किसी प्रकार से भी परीक्षा कीजिये, सहित्य की कैसी ही कसौटी पर कसिये वह पूर्णतया उच्चश्रेणी की मिलेगी और उसके पठन-पाठन से लोकोत्तर आनन्द अवश्य होगा। इसी कारण भवभूति की गणना विद्वानों ने महाकवियों में की है।

---

*पं० बालकृष्ण भट्ट

भवभूति और कालिदास

संस्कृत के परमोत्कृष्ट कविवृन्द में कालिदास और भवभूति ही ऐसे हैं जिनका गुणगान आजतक अनवच्छिन्नरूप से चला आता है। सर्व सम्मति से दोनों ही आदरणीय तथा पूज्य हैं। इन दोनों महाकवि-कृत रचनाओं की परस्पर तुलना करके यथार्थ तारतम्य निकालना जरा टेढ़ी खीर है। सब की रुचि एक ही सी नहीं होती। कोई कालिदास को उत्तम मानते हैं और कोई भवभूति को; किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो अपने अपने ढंग के दोनों ही निराले हैं। दोनों ही प्रथम श्रेणी के कवि हैं, इन दोनों की जैसी उत्कृष्ट प्रतिभा प्रकृतिजात थी, वैसे ही भाषा भी भावानुसारिणी थी: दोनों की कल्पना, तथा पद-रचना में प्रौढ़ता और सरसता आदि जो महाकवियों के गुण हैं पूर्णरूप से पाये जाते हैं। यदि कालिदासका कल्पना पर अधिकार है तो भवभूति भी मानव-मनोधर्म के भिन्न भिन्न स्वरूप को चित्रित करने में सिद्धहस्त हैं।

एक शृङ्गार रस का निदर्शन विशद प्रकार से कराते हैं तो दूसरे वीर तथा करुणारस की प्रतिमूर्ति सामने खड़ी कर देते हैं और सरस शृङ्गार रस को चित्रांकित करने में अपने प्रतियोगी से किसी भाँति कम नहीं हैं। कालिदास के शृङ्गार का उद्भव विशुद्ध प्रेम से नहीं किन्तु प्रायः काम-वासना से ही कहा जाता है, किन्तु भवभूति का शृङ्गार सहज तथा पवित्र भावनात्मक है। कालिदास की वर्णन-शैली सरस, स्वाभाविक, मृदुल, एवं मनोहर है और भवभूति की रचना-

प्रणाली कृत्रिम, श्रमसाध्य, प्रौढ़, समयानुकूल तथा लम्बे लम्बे प्रशस्त प्रभावशाली समासों से गुम्फित है। भवभूति के नाट्य-पात्र सच्चे और रूपान्तर मात्र हैं और उनके नाटक उस समय के सामाजिक भाव, रीति-नीति, आचार-विचार और पारस्परिक व्यवहार के जैसे के तैसे प्रतिविम्ब हैं। उनके द्वारा ही तत्कालीन हिन्दू सामाजिक अभिरुचि, भाव और सभ्यता का सच्चा पता चलता है। कालिदास के पश्चात् होने से भवभूति को उनके भावों तथा विचारों का अनिवार्य अनुकरण करना पड़ा है, किन्तु यह अनुकरण भी कहीं कहीं बहुत बढ़िया हुआ है। जिस बात को कालिदास व्यंगार्थ में प्रकट करते हैं वही भवभूति द्वारा वाच्यार्थ में कथन की जाती है। कालिदास पर बहुधा शास्त्रीय नियमों का अंकुश नहीं है किन्तु भवभूति पूर्णतया यथा-वत् शास्त्रीय नियमों का पालन करते हैं। उनके अतिथियों का स्वागत मधुपर्क बिना होता ही नहीं—कालिदास के नाटकों में विदूषक महाराज मिलेंगे जिनकी उपहासजनक बातों से गाम्भीर्य को भागना पड़ता है, किन्तु भवभूति के नाटकों में विदूषक का नाम भी नहीं + प्रत्युत दुर्मुख को भी कर्त्तव्यपरायण होना पड़ता है। वास्तविक घटनाक्रम के गाम्भीर्य की रक्षा के निमित्त कदाचित् भवभूति ने ऐसा किया है। कालिदास के कोई भी नायक-नायिका, दाम्पत्य-विज्ञान के उज्ज्वल उदाहरण आदर्श पति

+ कदाचित भवभूति के समय में देशी राज्यों के परस्परविरोध के कारण उपहासजनक बातों को छोड़ लोग प्रायः गम्भीर रहा करते होंगे।

राम और आदर्श पत्नी सीता के जोड़ के अल्प-काल के लिए भी नहीं कहे जा सकते।

उत्तर-राम-चरित और शकुन्तला नाटक

यह दोनों नाटक आपस में बहुत मिलते हैं; दोनों ही संस्कृत साहित्याकाश के दो चन्द्र हैं; दोनों ही में नायकों ने अपनी गर्भिणी स्त्री का परित्याग किया है केवल अन्तर इतना ही है कि एक ने तो शाप-जनित भ्रम से और दूसरे ने लोकमत के आदर से ऐसा किया है। दोनों नायकों की स्त्रियों को आगे या पीछे महर्षियों का आश्रय प्राप्त हुआ है, दोनों ही नायक अपने आप में आकर अपनी २ पत्नी के लिए विलाप करते हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि दुष्यन्त का मनोरंजन कभी कभी विदूषक द्वारा हो जाया करता है और बिचारे राम को "स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्य सुलभः" हो रहा है। ऐसी दशा में राम का पुटपाक के समान करुणारस गाम्भीर्य-युक्त हो गया है। मनोविनोद की अपेक्षा राम का शोक सीता की सहेली वासन्ती के मृदु तथा कटु उपालम्भों से और भी बढ़ गया है। परित्याग के समय शकुन्तला दुष्यन्त पर कोप करती है, परन्तु सीता ने कहीं भी राम के लिए कटु-वचन का प्रयोग नहीं किया, स्त्री के आत्मत्याग की सीमा इस चित्रण से अधिक नहीं हो सकती—चिरस्थायी प्रेम का इस से बढ़ कर वर्णन न तो किया जा सकता है और न कहीं किया गया है। सुशील सद्-पति-प्रेममयी, क्षमा करने वाली सीता से बढ़कर उत्तम, पवित्र, देवतुल्य चित्र मनुष्य की कल्पना नहीं खींच सकती है। अन्त में दुष्यन्त और

राम दोनों ही अज्ञान भाव से अपने पुत्रों से मिल कर मुग्ध हो जाते हैं और दोनों ही नाटकों के नायक महर्षियों के आश्रम में उनकी कृपा से अपनी अपनी स्त्री पा लेते हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि उधर तो महाभारत के एक रूपक को लेकर कालिदास ने शकुन्तला नाटक की रचना कर संसार को मोहित कर दिया, इधर कालिदास के पश्चात् कालीन भवभूति ने रामायण से उसी प्रकार का एक रूपक ले उत्तर-राम-चरित को रच उक्त कवि की शकुन्तला का जोड़ उपस्थित कर दिया और इस भाँति प्रसिद्धि प्राप्त की। अस्तु यदि भवभूति का लक्ष्य उत्तर-राम-चरित बनाते समय शकुन्तला रहा हो तो असंभव नहीं है।

नाटक के आरम्भ में एक ब्राह्मण आकर सभा को आशीर्वाद देता है। इस आशीर्वाद को नान्दी कहते हैं। फिर नाटक खेलने वालों का मुखिया जो सूत्रधार कहलाता है सभा के सामने कुछ कह कर कहता है कि आज अमुक नाटक का खेल किया जायगा इस बातचीत को प्रस्तावना कहते हैं। नाटक के भागों को अंक कहते हैं और जो कोई अधिक प्रसंग किसी अंक के आदि में आता है वह विष्कम्भक अथवा गर्भाङ्क कहलाता है। नाटक के पढ़ने वालों की सुगमता के लिए कुछ बातें कोष्ठकों में लिखी जाती हैं; जैसे—

(नेपथ्य में)—इसका मतलब यह है कि यह बात कहीं परदे के पीछे से सुनाई पड़ती है जिसका कहने वाला रंगभूमि पर उपस्थित नहीं है। इस चिह्न का प्रयोग उस समय होता है जब

नाटक-कार किसी बात को बिना रंगभूमि पर खेले दर्शकों को ज्ञात करा देना चाहता है।

संकेत

(आप ही आप) अथवा (अलग) का अर्थ है कि कहने वाला इस प्रकार बोलता है मानो दर्शक तो सुन रहे है परन्तु दूसरे नाटक खेलने वाले नहीं सुन रहे हैं।

जहाँ लिखा है कि अमुक का प्रवेश, अथवा अमुक आता है, जाता है इत्यादि, इससे जानना चाहिए कि वह पात्र रंगभूमि पर आया अथवा वहाँ से नेपथ्य अर्थात परदे के पीछे चला गया।

धाँधूपुरा, आगरा
७—६—१२

—सत्यनारायण

॥ श्री हरि ॥

उत्तर-राम-चरित नाटक

[नान्दी]

बन्दौं श्रीमद्वाल्मीकि कवि-मग दरसावन।
रामचरित-नित-नव-रसाल-पिक कृत-जग-पावन॥
पुनि यौवन मनहरनि रसिक-वर-हृदय-विलासिनि।
अरथ-धरनि-जय करनि विविध विज्ञान विकासिनि॥
श्री शब्द-मूर्ति-धर-ब्रह्म की जो मंजुल माया लसै।
अस अमृत-बानी षट्पदी नित सतमुख अम्बुज बसै॥ १ ॥

[सूत्रधार का प्रवेश]

सूत्र०—बस, अधिक विस्तार का काम नहीं, आज भगवान कालप्रियनाथ की यात्रा के शुभ उत्सव पर सर्व सज्जन महोदयों को विदित हो कि कश्यपकुल-उजागर, अखिल-विद्या-सागर, जननि जातुकर्णी के पवित्र गर्भोत्पन्न, श्री-कण्ठ-पद्लाञ्छन जिनका नाम श्री भवभूति प्रसिद्ध है—

वचन के बस जासु सरस्वती,
करति काज मनो निज भामिनी।

मुदित खेलन तासु कवीन्द्र के,
विमल उत्तर-राम-चरित्र को ॥ २ ॥

[कुछ ठहर कर] अच्छा, तो, अब मैं कार्यवश अयोध्या-वासी और महाराज श्री रामचन्द्र के समय का बना जाता हूँ। [चारों ओर देख कर] अरे, क्या आजकल पौलस्त्य-कुल-धूमकेतु श्री राघवेन्द्र के राज्याभिषेक का समय है ? इन दिनों तो निरन्तर आनन्द-मंगल और गाने-बजाने की धूम-धाम मची रहनी चाहिए; फिर किस कारण से विरुदावली गाते हुए प्रफुलित चारण और भाट लोगों से चौरहे शून्य दिखलाई पड़ रहे हैं।

नट—[आकर] भाई, बात यह है कि महाराज ने लंका के युद्ध में सहाय करने वाले बन्दरों, राक्षसों तथा अनेक देशों के ब्रह्मर्षि और राजर्षि लोगों को जो राज्याभिषेक के सम्मान के लिये आये थे—यहाँ से बिदा कर दिया है, उन्हीं के सत्कारार्थ इतने दिनों तक उत्सव रहा था।

सूत्र०—अच्छा, ठीक !

नट—और देखो—

श्री वशिष्ठ सों पूर्न सुरच्छित सब महारानी।
कौसिल्यादिक मातु-प्रेम-पूरित मुद-सानी।
गुरु-तिय के संग गईं सुतापति सदन सुहावन।
निरखन हेतु पुनीत जज्ञ-उच्छव मनभावन ॥ ३ ॥

सूत्र०—अजी, मैं विदेशी हूँ, इसलिए पूछता हूँ कि ये सुतापति कौन हैं ?

नट—शान्ता जो सुन्दर सुता, दशरथ को गुन-माल।
दयी लोमपादहिं सदय, गोद धरन भुअपाल ॥ ४ ॥
उसका विवाह विभाण्डक के पुत्र शृङ्गीऋषि के साथ हुआ, जो आजकल बारह वर्ष में पूर्ण होने वाला यज्ञ कर रहे हैं, इसी कारण पूर्ण गर्भवती जानकी जी को छोड़ सब बड़े बूढ़े वहाँ गये हैं।

सूत्र०—इससे हमको क्या? हमतो चारण हैं, चलो राजद्वार पर चलें और निज वंशपरम्परानुसार राजा की विरुदावलि बखानें।

नट—तो वहाँ के लिए कोई बढ़िया स्तुति सोच लीजिये जिसमें किसी प्रकार का दोष न हो।

सूत्र०—सुनो भाई?

चूक चाकरी में कबहुँ, करनी चहिये नाहिं।
सब प्रकार निरदोष कहु, को पदार्थ जग माहिं॥
कुटिल मनुज सों रहि सकत, भला कौन निस्संक।
सद्‌बनिता कवितान में, जो नित लखत कलंक ॥ ५ ॥

नट—अजी, ऐसों को तो अति कुटिल कहना चाहिए क्योंकि—

सती सियहु कों दोस दै, जन जब करत अनीति।
अपर तियन की जगत में, को करिहै परतीत॥
केवल निन्दा मूल तिन, राखुस घर को बास।
अनल-परीच्छहु में तनक, नहिं लोगन बिसवास ॥ ६ ॥

सूत्र०—जो कहीं उड़ते उड़ते इस चर्चा की महाराज के कान में
भनक भी पड़ गयी तो बड़ा ही अनर्थ हो जायगा।

नट—ऋषि और देवता सब भला करेंगे। [इधर-उधर घूम कर]
क्यों जी, इस समय महाराज कहाँ हैं ? [कुछ सुन कर]
सुनने में तो यह आया है कि—

रघुनन्दन के अभिनन्दन कों,
यहँ आइ बिताय के द्यौस सुखारे।
अभिषेक के उत्सव कों करकें,
मिथिलापुर कों मिथलेस सिधारे॥
यहि कारन भारी उदास सिये,
समझावन कों कहि बैन पियारे।
तजिकें धरमासन, प्रेम भरे,
नृप रामजू मन्दिर कों पगु धारे॥ ७॥

[दोनों जाते हैं]

इति प्रस्तावना

अंक १

(स्थान—राजभवन)

[राम और सीता आसन पर बैठे दिखलाई पड़ते हैं]

राम—देवी धीरज धरो, इतना सोच क्यों करती हो ! आपके पूज्य पिता आप ही हम लोगों के बहुकालव्यापी विरह को नहीं सह सकते, किन्तु क्या करें—

नित्यकर्म को नियम कठिन जो अति ही भारी।
स्वतन्त्रता द्विज गृही-मात्र की हरतु पियारी॥
विघन तनकसो परत घने दोषनि उपजावत।
या चिन्ता सों ग्रसित कारमिक चैन न पावत॥ ८॥

सीता—आर्यपुत्र, मैं इसे अच्छी तरह जानती हूँ; किन्तु अपने लोगों से बिछुड़ कर कुछ दुःख होता ही है।

राम—प्यारी, आपने जो कहा वह ठीक है। हृदय-विदीर्ण करने वाली संसारी माया ऐसी ही प्रबल है, इसी कारण इससे भयभीत हो बुद्धिमान जन सब कामनाओं को छोड़-छाड़ कहीं एकान्त बन में जाकर विश्राम करते हैं।

[कंचुकी का प्रवेश]

कं०—भैया रामचन्द्र, [इतना कहके दाँतों के नीचे जीभ काट कर] महाराज !

राम—[मुसकाकर] आर्य, तुम पिताजी के पुराने सेवक हो तुम्हारे मुख से 'भैया रामचन्द्र' ही सम्बोधन अच्छा लगता है, इसलिए तुमको जैसा अभ्यास पड़ रहा है वैसा ही कहा करो।

कं०—महाराज, शृंगीऋषि के यहाँ से अष्टावक्र जी आये हैं।

सीता—तो उन्हें क्यों रोक रक्खा है!

राम—शीघ्र ले आओ।

[कंचुकी जाता है]

[अष्टावक्र का प्रवेश]

अ०—आपका कल्याण हो!

राम—भगवान् मैं आपको प्रणाम करता हूँ; यहाँ बिराजिये।

सीता—मैं भी प्रणाम करती हूँ; कहिये जामातृ के सहित हमारी सास और शान्ता देवी कुशल से तो हैं?

राम—बतलाइये; हमारे बहिनोई सोमरस के पान करने वाले शृंगीऋषि जी का यज्ञ तो निर्विघ्न हुआ चला जाता है, वह और बहिन शान्ता आनन्द से तो हैं?

सीता—कभी हमारा भी स्मरण करती हैं?

अ०—[बैठ कर] क्यों नहीं? देवी, कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ जी ने आपको कहला भेजा है कि—

विश्व भरनि वसुमतीदेवि को तुम हो जाई।
जगत-जनक सम जनक सुभग तुव जनक सुहाई॥

जिन कुल सविता बंस-प्रवरतक हम आचारी।
तिन राजनि की बधू नन्दिनी तुम सुकुमारी ॥ ९ ॥

इस कारण और क्या आशिष दें, बस भगवान तुम्हें वीर-जननी बनावें, यही हमारी आन्तरिक कामना है।

राम—इसके लिए हम अत्यन्त अनुगृहीत हैं, क्योंकि—

निरखि अर्थ कहैं निज बैन कों,
सकल लौकिक साधु बनाइकें।
बिमल मानस आदि अषीनु के—
बचन कों अनुधावत अर्थ है ॥१०॥

अ०—और भगवती अरुन्धती, देवी शान्ता, महारानी माताओं ने बारम्बार यह कहला भेजा है कि आजकल गर्भिणी सीता का मन जिस किसी वस्तु पर चले वह अवश्य ही उपस्थित की जाय, उसमें कदापि देर न करना।

राम—जो कहती हैं सो सब किया जाता है।

अ०—तुम्हारे नन्दोई और माताओं ने यह कहला भेजा है कि बेटी, तू पूरे दिनों से है इसी कारण तुझे हम अपने साथ नहीं लाये, वत्स रामचन्द्र को भी तेरा जी बहलाने के लिये वहीं छोड़ दिया है, इसलिए हे आयुष्मती! लाल से जब तेरी गोद-भरी पूरी होगी तभी हम तुझ से मिलेंगे।

राम—[हर्ष और लाज से मुसकराकर] ऐसा ही हो, कहिए भगवान वशिष्ठजी की कुछ मेरे लिए भी आज्ञा है।

अ०—उसे भी सुनिये—

ऋषि शृंग के मख में यहाँ, लागे सबै हम आज।
है बालमति अब ही तिहारी, राज को नव काज॥
तुव धर्म नित्य प्रजानुरंजन, निज प्रमाद बिहाय।
तज्जनित जस धन प्रचुर ही, रघुबंस की प्रभुताय॥११॥

राम—भगवान मैत्रावरुणि की जो आज्ञा !

मोह, दया, सुख, सम्पदा, जनक-सुता बरु होहि।
प्रजा हेतु तिनहुँ तजत, बिथा न व्यापहि मोहि॥१२॥

सीता—आर्यपुत्र, इसीलिए आप रघुकुल धुरन्धर कहलाते हैं।

राम—कोई है ? अष्टावक्र जी को ले जाकर विश्राम कराओ।

अ०—[उठकर और घूमकर] अहा ! यह तो कुमार लक्ष्मण आ रहे हैं। [जाता है]

[लक्ष्मण का प्रवेश]

ल०—महाराज की जय हो, उस चित्रकार ने, जैसे कि हमने कहे थे वैसे ही आपके चरित्र-चित्र उन दीवारों पर चित्रित किये हैं, उन्हें चलकर देख लिजिये।

राम—[आप ही आप] उदास जानकी को प्रसन्न करना कुँवर खूब जानते हैं, [प्रगट] अच्छा, तो वह कहाँ तक बन गया है ?

ल०—महारानी की अग्निशुद्धि तक।

राम—हैं हैं, ऐसा मत कहो !

अति पुनीत सिया निज जन्म सों,
तिहि अजा पुनि पावन को करै।

लहि सकै कहुँ अन्य पदार्थ सों,
अनल, तीरथ-तोय विशुद्धता ॥१३॥

हे यज्ञभूमि से उत्पन्न हुई देवी! क्षमा करना यह तो जन्म-भर का कलंक तुम्हारे सिर हो चुका; तुम्हारी पवित्रता के विषय में मुझे रत्ती भर भी संशय न था, परन्तु—

कुल-कीरति रूप चहैं धन जे,
ते महीप प्रजा को करैं मनभावत।
यहि सों मम वैन कहे जो अजोग,
नहीं तुव जोग अबै जो सतावत।
निज पुष्प सुगन्धित कों जग माहिं,
सुभावहि सों सब सीस चढ़ावत।
वनिकें निरमोही न कोऊ जनो,
तिनकों दलि पाहन के तर दावत ॥ १४ ॥

सीता—आर्यपुत्र, इन बातों को जाने दीजिये, होना था सो होगया, आइये, अब आप के चित्र को देखें।

[सब आते हैं]

स्थान राज-मन्दिर, चित्रशाला

[राम लक्ष्मण सीता आते हैं]

ल०—यही तो हैं चित्र।

सीता—[देख कर] देखो जी, ये कौन हैं जो ऊपर पास पास खड़े हुए आर्यपुत्र की प्रार्थना-सी कर रहे हैं?

ल०—महारानी, ये मंत्र सहित जृम्भकास्त्र हैं, ये भगवान कृशाश्व मुनि से विश्वामित्र जी को मिले और उन्होंने ताड़का के वध करने के समय से महाराज को दे दिये हैं।

राम—प्यारी, इन दिव्यास्त्रों को प्रणाम करो।

वेद, विप्र रच्छा निमित्त, विधि आदिक ऋषि वृन्द।
कियो सहसधिक बरस लौं, तप अति कठिन अमन्द॥
अपनो ही तप-तेज-बल, परम प्रभासित स्वच्छ।
इन अस्त्रनि के रूप में, तिन देख्यो प्रत्यच्छ॥११॥

सीता—अच्छा। मैं इनको प्रणाम करती हूँ।

राम—अब से ये सर्वथा तुम्हारी संतान की सेवा में रहेंगे।

सीता—मुझ पर बड़ी कृपा हुई।

ल०—यह मिथलापुरी का दृश्य है।

सीता—अहा! यह तो आर्यपुत्र का चित्र कढ़ा हुआ है। काक-पक्षों से श्रीमुख-मंडल की छवि और भी अनोखी हो गई है। प्रफुल्लित नवल-नील-कमल सा श्याम इनका सुन्दर सुकुमार पुष्ट शरीर कैसा शोभाभिराम है; वह देखो, पिता जी बड़े आचार्य के साथ, सहज ही में शंकर का शरासन तोड़ने वाले महाराज के मृदुल-मंजुल-स्वरूप को इकटक निहार रहे हैं।

ल०—महारानी देखिये, ! देखिये !!

जब पितु निज प्रोहित निपुन, सतानन्द के संग।
सजन बसिष्ठादिकन कौं, पूजत सहित उमंग॥१२॥

राम—ये देखने योग्य हैं।

प्रिय न काहि रघु-जनक को, कुज सम्बन्ध पवित्र।
करता-धरता जहँ सुभग, आपुहि विश्वामित्र ॥१७॥

सीता—और देखिये, ये चारों भाई सगुन सायत से मुण्डन कराकर विवाह का कंकन बाँधे उपस्थित हैं; अहा! ऐसा जान पड़ता है मानो हम लोग जनकपुर में बैठे हैं और यह वही समय वर्त रहा है।

राम—सुमुखो! बरतत समय यह, होत यही परतीत।
गौतम-देव-प्रदत्त जब, तेरो पानि पुनीत॥
कंकन-भूषित जनु महा, उत्सव को अवतार।
ग्रहन करत प्रफुलित कियो, मोकों बारहिंबार॥१८॥

ल०—देखिये आप हैं, ये श्री माण्डवी हैं और ये वधू श्रुतिकीर्ति हैं।

सीता—और यह दूसरी कौन हैं?

ल०—[लज्जा से मुसकरा कर आप ही आप] महारानी सीता अब उर्मिला को पूछ रही हैं, सो किसी बहाने यह बात उड़ानी चाहिए। [प्रगट] श्रीमती, देखने योग्य इधर है, आइये, भगवान परशुराम जी के दर्शन कीजिये।

सीता—[भ्रम में पड़कर] इनके देखने से तो भय लगता है।

राम—ऋषि महाराज को नमस्कार है।

ल०—महारानी देखो देखो, यह महाराज ने ऋषि के धर्म......

राम—[आँख से बर्जते हुए] अजी, अभी तो बहुत देखने को पड़ा है, और ही कहीं दिखलाओ।

सीता—[स्नेह और आदर से देखकर] आर्यपुत्र, इस विनय बड़ाई

से ही आपकी शोभा है।

ल०—लीजिये, हम सब अयोध्या में आपहुँचे।

राम—[आँसू भरकर] हा! मुझे स्मरण है! भली भाँति स्मरण है!!

ब्याहे जब सब भाइ, अछत तात सुख-प्रद चरन।
मुदित दुलारति माय, कहाँ हमारे ते दिवस ॥१६॥

और तभी की ये जानकी हैं:—

छिटकी जिह गोल कपोलनि पै, बिखरी अलकें झलकें घुँघरारी।
रद कुन्द-कली सम बारी-सी बैस की, भोरी धरैं मुख पै छबि प्यारी॥
सुठि देह सुभाइ बिलास भरी, ससि की खरी जीति लई उजियारी।
निज लोल कपोलनि डोलनि सों, मम मायनु मोद बढ़ावन हारी॥

ल०—और देखो, यह मन्थरा है।

राम—[बिना उत्तर दिये और दूसरी जगह दिखाकर] प्यारी वैदेही—

सृङ्गवेरपुर में वही, यह खिरनी को वृच्छ।
प्रिय निषाद-पति सों यहीं, भयो समागम स्वच्छ ॥२०॥

ल०—[हँसकर आप ही आप] देखो महाराज ने मझली माता का वृत्तान्त सब छोड़ दिया।

सीता—देखिये, यहाँ हम लोगों की जटायें बाँधी जा रही हैं:—

ल०—राजपाट दै निज सुतनि, त्याग जगत जंजाल।
वृद्ध समय बन कों गये, सूरज-बंस-भुआल॥
वही अमल आरण्य व्रत, पावन पुन्य-समाज।
बाल-काल ही में धरयो, तुमने श्री महाराज ॥२१॥

सीता—ये विश्व की वंदना योग्य पुण्यसलिला भागीरथी बह रही हैं?

राम—[चित्र देख कर] माता भागीरथी, आप रघुकुल की कुल-देवी हो, मैं प्रणाम करता हूँ—

खोजत सगरसुत यज्ञ-हय,
महि भेदि पातालहिं गये।
मुनि कपिल-कोप कराल सों,
जरि छार सब छिन में भये।
अति कठिन तप तपि तब भागीरथ,
सलिल अघहर लाइकें।
उद्धार कियो पुरखान को,
भगवति दया तुव पाइकें ॥ २३ ॥

सो हे जननी, आप अरुन्धती के समान वधू सीता पर सदा स्नेहमयी दृष्टि रखना ।

ल०—यह वही श्यामघाट है जो भरद्वाज के बतलाये हुए चित्र-कूट के मार्ग में कालिन्द्री के तट पर मिला था।

सीता—आर्यपुत्र, क्या इस प्रदेश का भी आपको स्मरण है?

राम—भला, यह कैसे विस्मरण हो सकता है—

जब मारग के स्रम व्यापन सों, सिथिलाइ के आलस ओइ गई।
मिसिली मुरझाई मृनालिनि-सी, बल-छीन पसीननु मोइ गई ॥
कछु मेरे तबै परिरम्भन सों मुठि-अंग-हराहरि खोइ गई।
सुख मानि प्रिया! यहँ वाही घरी, हियरा लगि मेरे तू सोइ गई ॥२४॥

ल०—अब यहाँ से विन्ध्याचल के बन का आरम्भ हुआ है, वह देखिये, विराध के संग आपका संग्राम हो रहा है।

सीता—इसे रहने दीजिये, वह देखिये, धूप से बचने के लिये आर्यपुत्र ताड़ के पत्तों का छाता लगाये हम लोगों के साथ दक्षिणारण्य में प्रवेश कर रहे हैं।

राम—गिरि-निरझनी-तीर यह, वही तपोवन पुंज।
यतिनु-आसरम ढिग जहाँ, ठौर ठौर द्रुम-कुंज॥
आतिथेय अति शान्ति प्रिय, निवसत यहाँ गृहस्थ।
खाय मुठी भर भात जो, नित राखत चित स्वस्थ॥२५।

ल०—देखिये: जनस्थान के बीचोंबीच सघन द्रुम-कुंजों के कारण सतत शीतल-श्यामल-अरण्य से घिरा हुआ और गोदावरी की कलकल ध्वनि से प्रतिध्वनित गुफा वाला, यह प्रस्रवणाचल है, बरसते हुए बादल-दल की शोभा से इसकी घनश्यामता और भी बढ़ गई है।

राम—सुरति सुतनु! उन दिननु की, तिहि गिरि पै सौमित्र।
किये दोऊ हम मुदित जब, सेवा बिरचि बिचित्र।
सुरति सरस तटनी तहाँ, गोदावरि की है न?
सुरति कहो तिहि निकट को, नित बिचरन सुखदैन॥२६॥

ल०—यह पंचवटी में सूर्पणखा है।

सीता—हा! आर्यपुत्र! बस यहीं तक आपके दर्शन होंगे!!

राम—प्यारी! वियोग से इतना क्यों डरती हो, यह तो चित्र है।

सीता—कुछ भी हो, चित्र दर्शन से भी दुख तो होता ही है।

राम—हाय! जनस्थान की बात तो ऐसी जान पड़ती है मानो अभी हो रही हो।

ल०—रचि कनक-छल-मृग राछसहिं, जो कछु करचौ दसकंध नें।
भारी करचौं प्रतिकार ताको, हाय! तउ सालत मनें॥
अरु प्रिय हित तुम विकल क्रन्दन जो विजन बनमें कियो।
सुनि नाहि कौ पापानहू रोवत फटत वज्जुर हियो!! ॥२८॥

सीता—[आँसू भरकर] हा देव! रघुकुल-आनन्दकन्द! इतना दुख आपको मेरे ही लिए झेलना पड़ा था!!

ल०—[सान्त्वना देने के अभिप्राय से देखकर] आर्ये! यह क्या है?
तुव नयनन सन टपकत टपाटप यह लगी अँसुअन झरी।
बिखरी खरी मुख पैं परी जनु टूटि मोतिन की लरी॥
रोकत यदपि बल सों बिरह की वेदना उर तउ भरै।
जब अधर नासा-पुट कँपहिं अनुमान सों जानी परै॥२९॥

राम—लाल!

तबतो सिय-बिरहागनी बिकराल कैसी ह्वै रही।
पै बैर अपनो लैन के हित सकल मैं सहजहिं सही॥
अब चित्र देखन सों वही पुनि जरि उठी भभकाइकैं।
हिय मम्म घाय समान पीड़ा देति उर उपजाइकैं॥३०॥

सीता—हा धिक् धिक्! उद्वेग के विपुल हो जाने के कारण मुझे ऐसा सूझ पड़ता है मानो आर्यपुत्र से फिर मेरा वियोग हो गया हो!

ल०—[आप ही आप] अच्छा तो इनका ध्यान और कहीं ले जायँ, [चित्र देखकर प्रगट] मन्वन्तर समकालीन अति प्राचीन

अपने पूज्य गृद्धराज जटायु के विक्रममय चरित्र का उदाहरण स्वरूप यह चित्र देखिए।

सीता—हा तात! अपूर्व पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ आपका अपत्यस्नेह सराहनीय है।

राम—हा तात! कश्यप! पक्षिराज! पुण्यतीर्थ-स्वरूप! आपके समान साधु महात्मा फिर कहाँ मिलेंगे!

ल०—यह जनस्थान के पश्चिम में कबंध दानव के रहने के स्थान चित्रकुञ्जवन नाम दण्डकारण्य का भाग है, यहाँ ऋष्यमूक पर्वत पर मतंगमुनि का आश्रम है, यह श्रवणनाम सिद्ध सिवरी और यह वही पम्पा नाम का सरोवर है।

सीता—अरे! यहाँ आर्यपुत्र क्रोध और शोक से अधीर होकर मेरे लिए उन्मुक्त-कण्ठ से रोये थे।

राम—देवी, यह बड़ा ही रमणीय सर है:—

यहिं मल्लिन जाति के हंस महा मृदु बोलत जोबन के मद छाये।
निज पंख सों दीर्घ मृनालनु के सित कंज मनोहर मंजु कँपाये॥
कछु जैसे डरे औ नवीन भरे अँसुआन के बीच में औसर पाये।
इत हेरयो जबै जब ता पल में लगे उत्पलनील किधौं लहराये॥३१॥

ल०—ये महाराज हनूमान जी हैं।

सीता—बहुत दिनों के शोकसागर में डूबे हुए लोगों का उद्धार कर अत्यन्त उपकारशील निस्संदेह ये महाभाग मरुतनन्दन हैं।

राम—अंजनि-मन-रंजन बिपुल, महाबाहु बलवान।
जग अरु हम जिनके ऋनी, ते यह श्री हनुमान॥ ३२॥

सी०—लाल! इस पर्वत का क्या नाम है जिसके कुसुमित कदम्बों पर बैठे मयूर गान कर रहे हैं; और जहाँ वृक्ष के नीचे, मूर्च्छित दशा में फीकी कान्ति वाले आर्यपुत्र, जिनका केवल प्रभाव-सौन्दर्य शेष रह गया है और जिन्हें रोते हुए तुम सँभाल रहे हो, दर्शाये गये हैं।

ल०—अरजुन पुहुप सुगन्धित गिरि सो माल्यवान जिहि नामा।
जासु शिखिर-आश्रियत सघन घन-श्याम हृदय अभिरामा॥

राम—बिरमो बिरमो तात! कहो जिन, सुनन हेत बल नाहीं।
लगत मनहुँ हिय-बिरह-वेदना सालति पुनि उर माहीं॥३३॥

ल०—यहाँ से आगे स्वयं आर्य के और कपि राक्षसों के असंख्य अद्भुत कार्य क्रमपूर्वक दिखाये गये हैं; किन्तु जान पड़ता है कि महारानी थक गई हैं, इस कारण निवेदन है कि आप कुछ विश्राम कर लीजिये।

सी०—आर्य पुत्र! इस चित्र दर्शन से मुझ गर्भिणी की एक इच्छा हुई है, कहिये तो कहूँ।

राम—अवश्य कहो।

सी०—मेरे मन में आती है कि एक बार फिर उन सघन सुन्दर वनों में विहार करूँ, और भगवती भागीरथी के पवित्र निर्मल शीतल गम्भीर नीर में खूब जी भरकर गोते लगाऊँ।

राम—भैया लछमण !

ल०—महाराज !

राम—देखो अभी तो गुरुजनों की आज्ञा मिली है कि गर्भिणी की जो इच्छा हो पूर्ण कर देना; सो तुम जाकर एक उत्तम रथ ले आओ जिसमें इन्हें हाल न लगे।

सी०—महाराज आपको भी साथ चलना पड़ेगा।

राम—हे कठोर हृदयवाली ! भला यह भी क्या तुम्हारे कहने की बात है !

सी०—बस, ऐसी बातों से आप मुझे बहुत प्रिय हैं।

ल०—जो महाराज की आज्ञा।

[जाता है]

राम—प्यारी आओ खिड़की के पास विश्राम करलें।

सी०—अच्छा मैं भी घूमते घूमते थक गई हूँ और इसी कारण मुझे भी नींद-सा आ रहा है।

राम—तो आओ मेरे सहारे से सो जाओ।

बहु राछस चित्र विलोकन सों, भयभीत कछू कछ कम्पन पाई।
श्रमसीकर मंजु बसीकर के कनिकान सों जासु बढ़ी रुचिराई।
जनु इन्दु-मयूख विचुम्बित सीतल चन्दमनीनु को हार सुहाई।
निज बाहु वही मम कंठ में डारि, करो बिसराम प्रिये सुखदाई ॥२४॥

[पास बैठ कर आनन्द से]

जस जस परसत अंग तुव, सूझि न परत बिचार।
मोह लपेट्यो अटपटो, उपजत हिये बिकार ॥

सुख है अथवा दुःख सो, निहचै बैदति नाहिं।
मद, प्रबोध निद्रा किधों, विष छायो तन माहिं॥
डारि कबहुं भ्रम भँवर यह, चित्तहिं देत भ्रमाय।
अरु कबहूँ करि ताहि थिर, देत प्रमोद जगाय॥
ग्रहन करन नित निज विषय, इन्द्रियन-गन असमर्थ।
अद्भुत गूढ़ रहस्य जे, समुझि परत नहिं अर्थ॥ ३५॥

सी०—(हँसकर) आप का सर्वदा अनन्य एकरस प्रेम मुझ पर रहा है इस से बढ़ कर और क्या कहना चाहिए।

राम—सींचि सनेह के जीवन सों, करैं सूखन हीय प्रसून सुखारी।
इन्द्रिन कों नित तृप्ति-सुधा, बसुधा-तल पै बरसावत भारी।
एतिक बैन बिनीत तबै, दुखमोचन अम्बुज लोचन बारी।
श्रोनिन कों सुखदायक ज्यों, जग त्यों मन हेत रसायन प्यारी॥३६॥

सी०—हे प्रियम्वदा! अब मैं सोऊँगी।

(सोने के लिए इधर-उधर स्थान ढूँढ़ती हैं)

राम—अजी तुम क्या ढूँढ़ती हो—

एकसों ब्याहघरी सों सदा बन गेह में नेह निबाहन हारी।
बालपने और यौवन में पुनि तोहिं समोद सुआवन बारी॥
जाहि लख्यो सपनेहु नहीं अपने बस में कबहूँ पर नारी।
राम की ताही भुजा को सिराहनो लेउ लगाबहु प्रानपियारी॥३७॥

सी०—(नींद का नाट्य करती हुई) ऐसे ही है, आर्य पुत्र! ठीक ऐसे ही है।

राम—क्या प्रियम्बदा गोद में सो गई। (स्नेह से देखकर)

गृह की यहि गृहलच्छिमी, पूरन सुखमा साज।
अमृत सराई सुभग यहि, इन नयनन के काज॥
तन परसत ऐसी लगे, जनु चन्दन रसधार।
यहि भुज सीतल मृदुल गल, मानहु मुतियन हार॥
कछु न जाको लगत अस, जहाँ न सुख-संयोग।
किन्तु दुसह दुख को भरयो, केवल जासु वियोग॥३८॥

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्र०—उपस्थित है महाराज!

रा०—अरे कौन?

प्र०—दुर्मुख आपका गुप्तचर।

रा०—(आप ही आप) दुर्मुख तो रनवास का सेवक है, उसे तो हमने नगर के लोगों का भेद लेने को भेजा था। (प्रगट) अच्छा आने दो।

(दुर्मुख का प्रवेश)

दु०—(आप ही आप) हाय महारानी सीता के विषय में ऐसे जनापवाद को, जिसे सपने में भी विचारने से पाप लगता है भगवान रामचन्द्र से कैसे कहूँगा! बिना कहे बनती भी नहीं, क्या करूँ मुझ अभागे का तो काम ही यह है।

सीता—[स्वप्नावस्था में विलाप-सा करती हुई] हाय प्यारे आर्यपुत्र कहाँ हो?

राम—ओहो ! चित्र देखने से जो उत्कण्ठा हुई उसे बढ़ाने वाली मेरी ही विरह-भावना सपने में भी प्यारी को चैन नहीं लेने देती ।

[स्नेह से सीता के शरीर पर हाथ फेरते हुए]

सुख-दुख में नित एक, हृदय का प्रिय विराम थल ।
सब बिधि सों अनुकूल, विसद लच्छन मय अविचल ॥
जासु सरसता सकै न हरि, कबहूँ जरठाई ।
ज्यों ज्यों बाढ़त सघन, सघन, सुन्दर सुखदाई ॥
जो अवसर पै संकोच तजि, परनत दृढ़ अनुराग सत ।
जग दुरलभ सज्जन प्रेम अस, बड़भागी कोऊ लहत ॥२६॥

दु०—[आगे बढ़ कर] महाराज की जय हो !

राम—कहो क्या समाचार लाये ।

दु०—सब नगरवासी आपकी बड़ाई करते हैं और कहते हैं कि हम लोग इनके सुखद सुराज्य में बड़े महाराज दशरथ को भी भूल गये ।

राम—यह तो बड़ाई हुई, दोष भी तो कुछ कहो जिससे उसके दूर करने का उपाय किया जाय ।

दु०—[आँसू भरके] सुनिये महाराज [कान में कहता है] ।

राम—हाय ! यह कैसा असह्य वचन वज्राघात है !!

[मूर्च्छित होते हैं]

दु०—धीरज धरो, महाराज ! धीरज धरो ।

राम—[ठंडी साँस भरके] हाय !

हा सिय-पर-घर-बास को, कैसो बुरो चबाउ ।
शान्त कियो रचि रचि अतुल, अद्भुत तासु उपाउ ॥
अब सो वही कुभाग बस, पुनि पुनि जागत दौर ।
कूकर काटन जहर सम, फैलि गयौ सब ठौर ॥४०॥

हाय मैं अभागा अब क्या करूँ [विचार कर शोक के साथ]

लोकाराधन धर्म, सब प्रकार सज्जनन को ।
सो पितु पाल्यो धर्म, निज प्रानवि अरु मोहि तजि ॥४१॥

उसे मैं कैसे दूषित कर सकता हूँ—अभी भगवान वशिष्ठ जी को भी तो यही आज्ञा मिली है ।

जग उत्तम रवि-कुल-नृपति, सब बिधि परम पवित्र ।
तिन कर अनुकरनीय प्रिय, उज्ज्वल साधु-चरित्र ॥
सो तिह कुल मो जनम सों, भयो मलीन अपार ।
जग जिह चलत चबाउ अस, मुहिं अधमहिं धिक्कार ॥४२॥

हा देवी यज्ञात्मजा ! हा निज जन्म-रूप अनुग्रह से वसुन्धरा को पवित्र करने वाली विदेहवंशनन्दिनी ! हा पावक, वशिष्ठ और अरुन्धती द्वारा प्रशंसित प्रशस्त पुण्यशीलवती ! हा पतिप्राणा सीता ! हा कठिन महारण्य वास की प्यारी सखी ! हा तात प्रेमपालिता ! हा अल्प किन्तु मधुर मंजु-भाषिणी किस कारण तुम्हारे भाग्य ने ऐसा पलटा खाया है; क्योंकि—

तुमहीं सों यह जगत होतु, सिय सब बिधि पावन।
पै तुमरी चहुँ चरचा जग-जन करत अपावन॥
हैं तुमहीं सों लोग, पियारी सकल सनाथा।
किन्तु हाय तुम भोगहु दुख, जनु निपट अनाथा॥४३॥

[दुर्मुख से] दुर्मुख तुम लक्ष्मण से जाकर कहो कि तुम्हारे नये महाराज राम की यह आज्ञा है [कान में कहते हैं]।

दु०—केवल दुर्जनों के कहने से यह आपने क्या ठान लिया है, इससे तो आप पर कलंक लगेगा; महारानी, अग्नि-परीक्षा में भी शुद्ध प्रमाणित हो चुकी हैं और फिर आजकल तो उनके गर्भ में पवित्र रघुकुल के संतान की स्थिति है, यह भी विचार करना होगा।

राम०—अरे चुप, भला प्रजा के लोग दुर्जन किस तरह हो सकते हैं—

निरत प्रजाप्रिय भानुकुल, सब प्रकार सुखदाय।
विधि बस मम संसर्ग सों, भयो कलंकित हाय॥
कारे कोसनु पै भई, सिया-सुद्धि की रीति।
अरे अनोखी भाँति सों, को करि है परतीति॥४४॥

बस तू चला जा।

दु०—हाय महारानी!

[गया]

राम—हाय! मैं निष्ठुर कर्म करने वाला बड़ा निर्दयी हूँ।

निज बालपने सों सदा ही पली जनकादिक की हिय मोद जई।
उर अन्तर जो कबहूँ न करयो सब भाँति सों मोते सनेह छई॥

अब देकैं दगा अपराध बिना तिहि सीय कों हाय ये कैसी भई।
जमराज के आनन दैन चहीं जनु मैना कसाई कों सौंपि दई ॥४२॥

तो फिर हाय, जिसके छूने से भी पाप लगता है, ऐसा मैं अधर्मी, देवी को छूकर भी क्यों दूषित करूँ।

(सीता का सिर धीरे धीरे उठा कर अपना हाथ खींच कर)

भोरी सिया मोहिं छाँड़िदे मैं अति अधम चंडाल हूँ।
देख्यो न होगो अस कहूँ अरु ना सुन्यो होगो कहूँ ॥
लखि ऊपरी व्योहार मम श्रीखण्ड के धोखे परी।
दुरभाग बस विष विटप सों अबला वृथा लिपटी अरी ॥४६॥

(उठकर) हा! आज पृथ्वी लौट गई, राम के जीवन का प्रयोजन नष्ट हो गया, अब जगत् सूना उजाड़ जंगल-सा लगने लगा, यह संसार असार है, शरीर भी अपने लिए बोझ हो गया है, कोई आश्रय भी तो नहीं रहा, किंकर्तव्यविमूढ़ हूँ, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ अथवा यों कहना चाहिए—

जगत में नित भोगन कों विथा;
बस मिल्यो यह जीवन राम कों।
मरम-भेदक प्रानतु सों जड़्यो,
सकत ना कढ़ि बेबस चेतना ॥४७॥

हा जननी अरुन्धती! हा भगवान वशिष्ठ! हा विश्वामित्र! हा पवित्र पावक! हा देवी वसुन्धरा! हा जनक!

हा पिता ! हा माता ! परमोपकारी लंकाधिपति विभीषण ! हा प्यारे सुहृदय सुग्रीव ! सौम्य हनुमान ! हा सखी त्रिजटा ! आज राम पापी ने तुम सब को धोका दिया और तुम्हारा सब का निरादर किया। हाय अब मुझे इनके नाम लेने का भी अधिकार कहाँ है; क्योंकि:—

सच्चरित्र अनन्य । जगविदित हैं धनिधन्य ॥
कहँ मैं कृतघ्ननृसंस । हत सूर्यबंस-प्रसंस ॥
अब लेतु जो इन नाम । सब बिधि पुनीत ललाम ॥
जनु परसि तिनको अंक । हा ! हा ! करौं सकलंक ॥ ४८॥

जिसे मैं ने—

अपनो गिनि कैं हियरा सौं लगी, निस्संक जो नींद ने आइ गही ।
मृदुमूरतिवंत रमा-गृह की, सुखमा सौं सनी सुखदा दुलही ॥
सपने में भयाकुल गर्भवती, दिन पूरे के भार सौं काँपि रही ।
निरमोही अरे सोइ वज्रहियो करि, राच्छस कौं बलि दैन चही ॥ ४६॥

[सीता के चरण अपने माथे पर रखके] देवी ! देवी !! अन्तिम बार राम के शिर से आपके चरण-कमलों का स्पर्श—[रोते हैं]

[नेपथ्य में]

[दुहाई है ! महाराज की दुहाई है !!]

राम—देखो तो यह क्या है ?

[फिर नेपथ्य में]

तप कियो जिनने अति दारुण,
  उजरसा यमुना-तट-रम्य में।
लवण-त्रासित ता ऋषि-पुंज को,
  सरन में रघुनन्दन राखिये ! ॥२०॥

राम—अरे क्या अभी तक राक्षसों का त्रास बना ही है, अच्छा तो अभी इस कुम्भीनसी के पुत्र को नास करने के लिये स्वनामधन्य शत्रुघ्न को भेजूँ [कुछ चलकर और फिर ठहर के] हा देवी, तुमको कैसे अकेली छोड़ूँ। भगवती भूतधात्री तुम अपनी प्यारी जानकी को देखती रहना, तुम्हें सौंपता हूँ।

जनक के रघु के वर बंस को,
  सतत जो सत मंगलदायिनी।
लहलही लतिका जिह कीर्त्ति की,
  तुव सुता यह सोई वसुन्धरे ॥२१॥

(जाते हैं)

सीता—(सपने में) हाय प्यारे प्राणनाथ आप कहाँ हो ? (झट उठकर) हाय हाय बुरे स्वप्न से छली जाकर दुःख में मैं आर्यपुत्र को पुकार रही हूँ, हाय धिक्कार ! धिक्कार !! जो मुझ अकेली को सोते छोड़ वह चले गये, अच्छा देखा जायगा फिर मिलने पर जो मैं अपने बस रही तो उनपर बिना कोप किये न रहूँगी। अरे भाई कोई बाहर है ?

[दुर्मुख का प्रवेश]

दु०—देवी, कुमार लक्ष्मण ने कहला भेजा है कि रथ सज गया, श्रीमती आकर उस पर विराजमान हो जायँ।

सी०—अच्छा मैं चलती हूँ, पर चलने से गर्भभार काँपेगा इसलिए रथ को धीरे धीरे चलाना।

दु०—इधर से आइये, महारानी इधर से चलिये।

सी०—मेरा हाथ जोरि प्रनाम;

ऋषिमुनियन कौं, जे पर-कारज करत दया के धाम।
श्री रघुबंस-मान्य-कुल-देविनु, जे रच्छत अठजाम॥
आर्यपुत्र पदपद्मनि, जे मम सुख-सर्वस्व ललाम।
सब गुरुजन हित, जिन असीस सों पावत सुख अभिराम॥२२॥

[सब जाते हैं]

अंक २

अथ विष्कम्भक

[नेपथ्य में]

[तपस्विनी जी आपका स्वागत है !]

[पथिक के वेश तपस्विनी का प्रवेश]

त०—अहा, यह तो वनदेवी है जो फल-फूल और पल्लवों का अर्घ बनाकर मेरे लिये लाई है।

[वनदेवी का प्रवेश]

व०—[अर्घ देकर]

भोगौ यथारुचि या बन कों, तब दर्श मिले धनि भाग हमारो।
पुण्य घनेनु सों पावत हैं, जग पावन सज्जन-संग-सहारो॥
छाँहरि में बिरमाय पियो जल चारु, मुनीनु के जोग पियारो।
कंद फराहार पाइये जू काउ और को ना, सब भाँति तिहारो॥१॥*

त०—अहा क्या कहना है :—

*निज रुचि अनुसारा भोगहु सारा बन यह धनि मम भागे।
सज्जन सतसंगा धरम प्रसंगा, मिलत सुकृति जो जागे॥
तरु छाँह सुहावन मृदुजल पावन, मुनिजन भोजन जोई।
फल वा कन्दा सब स्वच्छन्दा, बरतहु निज गिन सोई॥

बहुधा प्रियवृत्ति बिनै मधुरी, गतिशानिसों चारु विचार दृढ़ावै।
पहँचानि अनिन्दित नित्त नई, मति मंगल मोद मई मन भावै॥
रस एक अगार पिछार लसै, छल छिद्र बिना, त्रयताप नसावै।
इमि सज्जन-पुण्य-चरित्र सदाँ चहुँ ओर बिजै बरसा बरसावै ॥२॥†

(दोनों बैठती हैं)

च०—कृपाकर बतलाइये तो आपका शुभनाम क्या है?

त०—मुझे लोग आत्रेयी कहते हैं।

च०—आर्ये आत्रेयी! अच्छा तो फिर आपका आना कहाँ से हुआ और इस दण्डकारण्य में विचरने से श्रीमती का क्या प्रयोजन है?

आ०—या वन में निवसत सुभग, अगस्तादि मुनि पुञ्ज।
सुन्दर सुर सों नित करैं, साम-गान की गुञ्ज॥
साम-गान की गुञ्ज गूँजि, मंजुल मन मोहत।
सत उपदेस असेस काज जो, जग मधि सोहत॥
तिन सों मैं वेदान्त पढ़न कों प्रन धरि मन में।
वालमीकि ढिंग सों सिधाय विचरति या वन में॥ ३॥

च०—अजी जब और ऋषि मुनि तो वेद का पारायण करने के लिये इन प्राचीन ब्रह्मज्ञानी वाल्मीकिजी की शिष्य-

---

† जग जन मनमोहन सविनय सोहन साधु वृत्ति सुठि बानी।
मति शुद्ध सयानी मंगलमानी बिमल समागम खानी॥
नित आँख अगारी पीठ पिछारी सरस सरस सुखदाई।
अस सुभग सप्रीती सज्जन रीती अकपट बिमल सुहाई।

रूप से सेवा करते हैं, फिर कहिए आपके इतनी दूर आने का क्या कारण है ?

आ०—वहाँ पढ़ने में बड़ा विघ्न होता है, इसलिए इतनी दूर आना पड़ा।

व०—सो कैसे ?

आ०—वहाँ किसी देवी ने माँ का दूध छूटते ही अत्यन्त विचित्र शैशव अवस्था के दो बालक लाकर उन महात्मा के अर्पण किये, जिनको देख ऋषियों को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण चराचर मात्र का मन स्नेह से मुग्ध हो जाता है।

व०—आप उनका नाम जानती हैं ?

आ०—उस देवी ने उनका नाम "लव कुश" बतलाया और साथ ही साथ उनका प्रभाव भी जता दिया था।

व०—कैसा प्रभाव ?

आ०—गुप्त मंत्र सहित जृम्भकास्त्र उनको जन्म ही से सिद्ध हैं।

व०—यह तो बड़े आश्चर्य की बात है !!

आ०—भगवान बाल्मीकि जी ने धाय का काम आप अंगीकार कर उन दोनों को पाला-पोसा, और मुण्डन संस्कार कर बड़ी सावधानी से उन्हें, तीनों वेद छोड़कर सब विद्या पढ़ा दी, फिर गर्भ के ग्यारहवें वर्ष लगते ही क्षत्रियोचित विधि से यज्ञोपवीत देकर शेष तीनों वेद भी पढ़ा दिये। उनकी बुद्धि बड़ी तीव्र और धारणा-शक्ति अत्यन्त ही प्रबल है। उनके साथ भला हमारा किस प्रकार निर्वाह हो सकता है, क्योंकि—

वितरत गुरु इक सम करत, बुध मूरख कों ज्ञान।
करत न, हरत न कछुक तिन, बोध शक्ति परिमान ॥
किन्तु समय परिनाम के, अन्तर विपुल लखात।
रहत मूढ़ के मूढ़ इक, अन्य चतुर बनि जात ॥
जिमि दिनेश सम भाव सों, नभ में करत प्रकास।
पूरन प्रति थल पर परत, तासु किरन आभास ॥
मनि-मंजुल समरथ सदा, बिम्ब ग्रहन के माँहि।
पै माटी के ढेल कहुँ, द्युतिमय दीसत नाहि ॥ ४ ॥

व०—बस यही विघ्न था?

आ०—और भी है।

व०—वह और क्या है?

आ०—एक दिन मध्याह्नकाल में वह महर्षि महाराज तमसा नदी के तीर पर गये, वहाँ देखा कि सानन्द विचरते हुए क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक को व्याध ने मार डाला है, इसी समय अकस्मात् ऋषि के मुख से नीचे लिखे आशय की स्पष्ट, दोष रहित, पूर्वापर सम्बन्ध युक्त, मधुर अनुष्टुप छन्द के रूप में वाग्देवी का प्रकाश हुआ।

"प्रेमभरी अति चाह सों, मदमाती सानन्द।
क्रौंचनि की जोड़ी फिरत, विहरंत जो स्वच्छन्द ॥
हनि तिनमें सों एक कों, कियो परम अपराध।
जुग जुग लों तोहि ना मिलहि, कबहुँ बड़ाई व्याध ॥"

व०—अरे! यह तो वेद से भिन्न नये छन्द-का-सा आविष्कार है!!

आ०—उसी समय भूतभावन पद्मयोनि भगवान चतुरानन ने शब्द-ब्रह्म-प्रकाशधारी ऋषि को दर्शन देकर कहा "हे मुनि पुंगव ! आप को शब्द-ब्रह्म के स्वरूप का भलीभाँति ज्ञान हो गया है, इस हेतु अब कुछ रामचरित रचिए और अपनी दिव्य प्रतिभा की प्रभा को निर्विघ्न फैलाते हुए आदि कवि की उपाधि को सार्थक करिये। बस यह कहकर वह अन्तर्द्धान होगये। इस प्रकार मानव-समाज में पहले ही पहल श्री वाल्मीकि मुनि ने शब्द-ब्रह्म-बीज से रामायण सरीखे सरल इतिहास-कल्पतरु को पल्लवित किया।

व०—बड़ा हर्ष की बात है अब तो सारा संसार पण्डित हो जायगा !

आ०—इन्हीं कारणों से, जो कि मैंने आपको बतलाये, विद्याध्ययन में बड़ा विघ्न उपस्थित होता है।

व०—ठीक है, होता होगा।

आ०—हे कल्याणमयी, मैं भली-भाँति विश्राम कर चुकी, अब तो कृपा कर अगस्त जी के आश्रम का मार्ग बता दीजिये।

व०—यहाँ से पंचवटी में होकर, बस गोदावरी के किनारे ही किनारे आप चली जाइये।

आ०—[आँसू भरकर] क्या तपोवन यही है, क्या इसे ही पंचवटी कहते हैं, क्या यही नदी गोदावरी है, क्या इसी पर्वत का नाम प्रस्रवणाचल है, क्या जन-स्थान की वनदेवी वासन्ती आप ही हैं ?

वा०—हाँजी, हैं तो सब वेही जैसा कि आप कहती हैं।
आ०—बेटी जानकी,

> वेही तुव प्रिय बन्धु, द्रुमादिक ये सुखदाई।
> जिन प्रसंग-बस चलत कबहुँ चरचा मन भाई॥
> यद्यपि नाम अवशेषमात्र तुव हाय पियारी।
> किन्तु इनहिं लखि लगत मनहुँ तुम नयनअगारी॥६॥

वा०—(भय के साथ आप ही आप) "यद्यपि नाम अवशेषमात्र तुव हाय पियारी" इनने क्यों कहा! (प्रगट) आर्ये, बतलाओ तो सीतादेवी पर ऐसी क्या विपत्ति पड़ी?

आ०—केवल विपत्ति ही नहीं पड़ी बिचारी को कलंक भी लगा (कान में कहती है)।

वा०—हाय हाय यह तो दारुण दैव का बड़ा प्रकोप हुआ। (मूर्च्छित होती है)

आ०—अजी धीरज धरो, धीरज धरो।

वा०—हा प्यारी सखी! हा सौभाग्यवती! क्या तेरे भाग्य में यही बदा था! रामचन्द्र! रामचन्द्र! रहने दो अब तुम्हारे नाम लेने से क्या है!! आर्ये आत्रेयी, जब उन्हें त्याग कर लक्ष्मण जी लौट आये तब सीता पर कैसी बीती, कहिए यह भी आप को कुछ विदित है?

आ—नहीं कुछ नहीं।

वा०—हाय हाय! वशिष्ठ और अरुन्धती से रक्षित और अधिकृत, रघुकुल में बड़ी-बूढ़ी कौशिल्या आदि के जीते जी यह घोर अनर्थ किस प्रकार हुआ?

आ०—तब बड़े बूढ़े तो सब शृंगीऋषि के आश्रम में गये हुए थे। अब जब कि बारह वर्ष पीछे उनका यज्ञ समाप्त होने पर सब के सब वहाँ से विदा होने लगे, तब भागवती अरुन्धती ने कहा कि मैं बहू से सूनी अयोध्या में नहीं जाऊँगी और इसका कौशिल्या माता ने भी अनुमोदन किया। इस अनुरोधवश भगवान वशिष्ठ ने पुनीत वाक्यों से सब को आश्वासन देकर कहा कि चलो सब वाल्मीकि जी के तपोवन में चलकर वास करेंगे।

वा०—तो आजकल महाराज राम क्या कर रहे हैं?

आ०—उन्होंने एक अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया है।

वा०—हाय, तो क्या दूसरा विवाह भी कर लिया?

आ०—अजी ऐसा मत कहो! ऐसा मत कहो!!

वा०—तो फिर यज्ञ में उनकी सहधर्मिणी कौन है?

आ०—सीता की स्वर्णमयी मूर्त्ति बनाली है।

वा०—हाय! बड़े खेद की बात है—

कुलिस सोंहु कठोर अपार है,
मृदु प्रसूनहुँ सों जिनको हियो।
अस अलौकिक जो जन जक्त में,
सकत पाइ भला तिन थाह को? ॥ ७ ॥

आ०—महर्षि वामदेव द्वारा अभिमंत्रित पवित्र अश्व भी छोड़ दिया गया है, और शास्त्रविधि के अनुसार उसके रक्षक भी नियुक्त हो गये हैं। कुमार लक्ष्मण के पुत्र दिव्यास्त्र

कुशल चतुर चन्द्रकेतु उस चतुरंगिनी सेना के सेनापति निर्वाचित हुए हैं।

वा०—चलो बड़े आनन्द की बात है कुमार लक्ष्मण के भी पुत्र हैं।

आ०—इसी बीच एक ब्राह्मण अपने मरे हुए पुत्र को राज-द्वार पर पटक छाती पीट-पीट कर चिल्लाने लगा "हाय अन्याय होगया ! हाय घोर अनर्थ होगया !!" उसका पुकारना सुनकर करुणामय रामचन्द्र ने विचारा कि बिना राजा के अपराध किये प्रजा में अकालमृत्यु हो नहीं सकती, इस प्रकार अपने को दोषी ठहरा ही रहे थे कि इतने ही में आकाशवाणी हुई—

"सूद्र एक शम्बूक तपत पृथ्वी पै भारी,
तिहि सिर छेदन जोग तिहारे, राम ! खरारी !
ताहि मारि अब शीघ्र लोक-मर्याद रखाओ।
दै द्विज बालहिं प्रानदान जग अजस नसाओ" ॥८॥

इतना सुनते ही तुरन्त खड्ग हाथ में ले, पुष्पक विमान पर चढ़, शूद्र तपस्वी के खोजने के लिए महाराज ने तभी से, सारी दिशा विदिशाओं में भ्रमण करना आरम्भ कर दिया है !

वा०—अधोमुख करके धूम्र-पान करने वाला शम्बूक नामक शूद्र इसी जनस्थान में तप करता है, इसलिए बहुत सम्भव है कि रामचन्द्र फिर कभी इस वन को सुशोभित करें।

आ०—हे कल्याणमयी अब तो मैं जाना चाहती हूँ ।

वा०—अच्छा अब दिन चढ़ आया है, देखिये—

जहाँ घोंसला निकुंज आइके कपोत-पुंज,
खुटकबई०। थके कूँजन सुनावहीं ।
छाँहरि में छाल जिनकी कुरेदि कीरनि कों,
चोंचनु निकारि खात खग दरसावहीं ।
जबहीं खुजावै गज-गंडथल पीड़िनि सों,
टपकि घमीले जिन कुसुम सुहावहीं ।
ऐसे चारु कूलद्रुम फूल बरसाइ मानों,
गोदावरी पूजि तासु गुन गन गावहीं ॥९॥

(इति विष्कम्भक)

[स्थान दण्डकवन]

(पुष्पक विमान में बैठे हुए खड्ग हाथ में लिए श्रीराम का प्रवेश)

रे हस्त सूधे आज । द्विज सिसुहिं ज्यावन काज ।
अब यह कृपान सम्हार । करु शूद्र मुनि पै वार ॥
अति दुसह गर्भहिं धार । चित खिन्न जनक-कुमारि ।
तब छीन जिहि कल नाहिं । तिहि विजन बन के माहिं ॥
जो तजत नाहिं सकुचात । ता राम को तू गात ॥
सो मधि कठोर नृशंस । कितसों दया को अंस ॥१०॥

(प्रहार करके) अब तो निर्दय-हृदय राम के सदृश कर्म हुआ और ब्राह्मण का पुत्र भी जी उठा !

(शम्बुक का दिव्य पुरुष के रूप में प्रवेश)

दि० पु०—जय हो, महाराज की जय हो—

जम-दंडहूसों रच्छन जो नित, दंड तिनि मोकों दयो।
अब जी उठ्यो तासन सिसू यह, विपुल मम वैभव छ्यो॥
शम्बूक तुव पद नवत, माँगत भक्ति भव-भय-हारिनी।
सत-संग में यदि मृत्युहू मिलि जाय, सोऊ तारिनी॥११॥

राम०—दोनों बातें हमारे मन की हुईं, अच्छा भाई! तुमने बड़ा तप किया है; इसलिए—

है जहँ पूरन आनँद ललाम,
जो परम पुण्य-सम्पत्ति धाम।
अस ध्रुव प्रकास जहँ दिव्य व्यास,
वैराज लोक हो तोहि प्राप्त॥१२॥

श०—आप ही के चरणारविन्द के प्रताप से यह महिमा प्राप्त हुई है, इस में तप का क्या फल है, अथवा तप ही ने यह महदुपकार किया हो; क्योंकि—

जगनायक त्रायक पूज्य प्रभो,
गरुड़ध्वज, शौरि, शरण्य, विभो।
प्रिय पावन भावन भक्तिधनी,
जिहि लागि करैं मुनि-खोज-घनी
इत सो हरि खोजत मोहि भये,
अपुही सत योजन आइ गये।
कहँ शूद्र अधीन मलीन-गती,
कहँ श्रीपति तीनहुँ लोकपती।

अपनाइके जो मम सुद्धि करी,
तप को यह पुण्य-प्रसाद, हरी !
नहिं तो तजि औध सुराज-महा,
वन-दंडक में तुव काज कहा ॥१३॥

रा०—क्या यह दण्डकवन है (चारों ओर देख कर) हाँ ठीक है—

कहुँ सजल सस्य स्यामल रसाल,
कहुँ सूखो रूखो अति कराल ।
कहुँ कहुँ झरना झर-झर निनाद,
जहँ गूँजि करत दस दिसि सनाद ।
उन तीरथ आश्रम गिरि समेत,
सर सरित गर्भ-कानन निकेत,
पूरब-परिचित सों अपन जोइ,
दीसत दण्डकवन यही सोइ ॥१४॥

शं०—हाँ यह वही दण्डकवन है जहाँ पूर्व निवास करते हुए—

चौदह सहस रनधीर, अति भीम राक्षस वीर ।
खरदूषणादि कराल, तुमने हने तिहिकाल ॥१५॥

राम०—तो यह केवल दण्डकवन ही नहीं, जनस्थान का भी कुछ भाग इसमें मिला है ?

शं०—ठीक ऐसा ही है । देखिये, दक्षिण की ओर प्राणीमात्र का हृदय दहलाने वाली, मदोन्मत्त प्रचण्ड व्याघ्रादि वन-

जन्तुओं से भरी, यह सघन विन्ध्याटवी उसी जनस्थान-पर्य्यन्त चली गई है।

ये जनस्थान-सीमा महान,
जहँ सघन गहन बन विद्यमान.
निस्पन्द शान्तिमय कहुँ अखंड,
बन-जन्तु-नाद सों कहुँ प्रचंड।
जहँ लपलपात रसना अपार,
सुखसों सोवत अहि फन पसार।
निज नम साँस सन कहुँ बिसाल,
जरि उठत भयंकर ज्वालमाल।
ह्वै गई भूमि जहँ पै दरार,
दीसत कछु कछु जल तिन मँझार॥
अजगर-श्रम-सीकर भासमान,
प्यासे गिरगट तिहि करत पान॥२६॥

×

रा०—पहलो खर को घर यही, जनस्थान दरसात।
साहित अबकी-सी परत, उन खोसन की बात॥२७॥

अरे क्या यह वे ही महा बन हैं जिन्हें विदेह-नन्दिनी बड़ा प्यार करती थीं? उन्हें बन में रहने का सदा ही चाव रहता था। अब प्यारी के बिना ऐसा मालूम होता है मानो इनसे अधिक भयंकर संसार में कोई वस्तु ही नहीं है; हा! (आँसू भरकर)

'मकरंद सुरभित विपिन में, तुव-संग बसिहौं पीउ !'
यह कहन जनु अनुभवित, अस रह्यो नेह-मय ता जीउ ॥
कछू हू करै ना तोउ ढिग बसि, करत बिपदहिं दूरि ।
अवसि जाको जो सुहद, सो तासु जीवनमूरि ॥१८॥

शा०—बस, महाराज ! इन कठोर दृश्यों को छोड़िये, इनसे आपका हृदय वृथा ही व्यथित होता है अब आप जनस्थान-मध्यवर्ती शान्त गम्भीर वनों को देखिये, जहाँ मतवाले मनोहर मयूरों के कमनीय-कोमल-कण्ठ सरीखे हरे-भरे पर्वत अपनी लहलही छटा छिटका रहे हैं, जो सघन-शीतल-श्यामल तरुण-तरुओं की सुखद-शोभा से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है और व्याघ्रादि जन्तुओं का उपद्रव न होने के कारण निर्भय विचरते हुए कुरंगों की क्रीड़ास्थली बना है:—

यहिं बेतस-बल्लरी पै खग बैठि,
कलोलभरे मृद बोल सुनावैं ।
तिनसों झरे-पुष्प-सुगन्धित तोय,
बहैं अति सीतल हीतल भावैं ।
फल पुंज पकेनि के कारन श्यामल,
मंजुल जम्बु निकुंज लखावैं ।
उनमें रुकि के करि घोर धुनी,
झरनानि के सोत समूह सुहावैं ॥१९॥

और—

इन खोहनि में दल रीछनि को बसि,
जोवन जोर मरोर जतावै ।
गिरि-गुंज के संग उमंग भरयो,
भयकारी धुनी घनघोर मचावै ।
कहुँ कुंजर सों हँदि कुन्दिरकी,
कुचिलो निज गाँठिन कों दरसावै ।
तिनसों कहूँ सीतल और कसाय,
चुई रस-गन्धि चहूँ छिति छावै ।।२०।।

रा०—[आँसू रोक कर] अच्छा तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम विमान पर बैठकर दिव्यलोक को सिधारो ।

श०—श्री महाराज, मैं पुरातन ब्रह्मज्ञानी भगवान अगस्तमुनि को प्रणाम करके आपके दिये हुए अक्षयलोक को जाता हूँ।

[जाता है]

रा०—ये वन सोई लख्यो पुनि आज,
जहाँ सुखसों बहु द्योस बिताये ।
भ्रात औ सीय के संग करे,
मुनिराजनि के सतसंग सुहाये ।
नित्त फलाहर खात रहे,
निज धर्म के पालन में चितलाये ।
सौक सबै जग-भोग विलासन,
के रस सों हम वंचित नाये ।।२१।।

ये गिरि सोई जहाँ मधुरी,
मदमत्त मयूरनि की धुनि छाई।
या वन में कमनीय मृगानि की,
लोल कलोलनि डोलनि भाई।
सोहे नदी-तट धारि घनी,
जल वृच्छन की नवनील निकाई।
मंजुल मंजु लतानि की चारु,
चुभीली जहाँ सुखमा सरसाई॥२२॥

और—

जो देखन में दूर सों, लागत जनु घनमाल।
प्रस्रवणाचल है सोइ यह, गोदावरी रसाल॥
या ऊँचीसी सिखिर पै, गृध्रराज को तात।
रह्यो बास थल जाहि लखि, अजहुँ जीय पुलकात॥
धुर यहिं नीचे परन की, कुटी सुहावन छाइ।
वास कियो हमने रुचिर, लछिन सीय संग आइ॥
बसत सघन स्यामल विपिन, जहँ हरपावत अंग।
करि कलोल कलरव करत, नाना भाँति विहंग॥
फल भारन सों झालरे, हरे वृच्छ झुकि जाहिं।
झिलमिलाति झाईं सुतिन, गोदावरि जल माहिं॥२३॥

हाय! यह वही पंचवटी है, यहीं अनेक दिन निवास करने के कारण ये प्रदेश हमारे विविध स्वच्छन्द विहारों

के साक्षी हैं, यहीं कहीं प्रिया की प्यारी सखी वनदेवी वासन्ती रहती है। हाय मुझ पर यह न जाने क्या अनर्थ टूट पड़ा, कुछ समझ नहीं पड़ता !

कैधों चिर-सन्तापज अति तीव्र विष-रस,
फैलि मम तनमाहिं रोम रोम छायो है।
कैधों घाय कितहूँ ते शल्य को शकल यह,
वेगसों हृदय मधि सुदृढ़ समायो है॥
कैधों कोऊ पूरित मरम-घाय खाय चोट,
तिरकि भयंकर विमलि हरिआयो है।
होइ न विरह-सोक, घनीभूत कोऊ दुख,
करि जाने विकल मो चेतहू भुलायो है॥२४॥

तो भी मैं अपने पूर्व परिचित स्थानों को देखे बिना नहीं जा सकता। [देखकर] अब तो यहाँ की अवस्था में कुछ अन्तर हो गया है:—

सोहत हो प्रथम जहाँ पै सरि-स्रोत मञ्जु,
तहाँ अब विपुल पुलिन दरसावै है।
विरल हो प्रथम विपिन तहाँ घनो भयो,
जहाँ घनो तहाँ अब विरल दिखावै है॥
बहु दिन पाछे विपरीत चिन्ह देखन सों,
यह कोऊ भिन्न बन संक जिय आवै है।
जहाँ के तहाँ पै किन्तु अचल अचल हेरि,
सोई 'पंचवटी' विसवास ये दृढ़ावै है॥२५॥

हाय यहाँ से लौट जाने की इच्छा रहते हुए भी पंचवटी का स्नेह मुझे अपनी ओर बरबस खींचता है :—

(करुणा भरे स्वर में)

बितये बहु दिन यहँ सिया संग,
जनु अपने ही घर सह उमंग।
नित नव यहँ की चरचा चलाइ,
पायो हम दोउन सुख सिहाइ।
अब हाय अकेलो प्रिया हीन,
अति दुसह बिरह दुख सों मलीन।
यह राम पातकी करि प्रवेस,
देखहि कस पंचवटी प्रदेस।
जो लखत, हाय तो सिय-बियोग,
उद्दीपत जिय में सोक-योग।
यदि नाहिं लखत, उत असन्तोष,
सिर कृतघ्नता को चढ़त दोष।
कारन, जो प्रिय को प्रिय महान,
ताको नित चहियतु करन मान।
अब कैसेहु न कोऊ बचाव,
हा हा! नहिं कछु सूझत उपाव ॥२६॥

[शम्बूक का प्रवेश]

श०—जय हो! महाराज की जय हो!! अगस्तजी ने मेरे मुखसे श्री महाराज का इस बन में शुभागमन सुनकर कहला

भेजा है कि विमान से आपके उतरते ही मंगलाचार की सामग्री सजाये, स्वागत करने के लिये अत्यन्त प्रेम-पूर्वक, लोपामुद्रा, और सब आश्रमवासी श्रीमान की बाट देख रहे हैं, सो हमारा आदर स्वीकार कर सबों का मनोर्थ पूरा कीजिये, पुष्पक-विमान बहुत शीघ्र जाता है, अश्वमेध के समय तक तो आप उससे अयोध्या पहुँच सकते हैं।

रा०—महर्षि जी की आज्ञा सिर माथे।

श०—तो पुष्पक को फिर इधर फेरिये।

रा०—भगवती पंचवटी ? बड़ों की आज्ञा-पालन करने की शीघ्रता में मैं तुम्हारी यथोचित सेवा किये बिना ही जो जा रहा हूँ, उसे थोड़ी देर के लिये क्षमा करना।

श०—देखिये, महाराज देखिये, यह वही क्रौंच गिरि है:—

जहँ बाँस-पुंज कुंज लसित कुटीर माहि,
घोरत उलूक भीर, घोर घुघियाइकैं।
तासु धुनि प्रतिधुनि सुनि काक-कुल मूक,
भयवस लेत ना उड़ान कहुँ धाइकैं।
इतउत डोलत, सु बोलत हैं मोर, तिन-
सोर सुनि, सरप दरप बिसराइकैं।
परम पुरान श्रीखण्ड तरु कोटर में,
मारत स्व-कुंडली सिकुरि घबराइकैं॥ २७॥

और—

जिन कुहरनि गद् गद् नदति, गोदावरि की धार।
सिखिर स्याम, घन सजल सों, ते दक्खिनी पहार॥
करत कुलाहल दूरसों, चंचल उठत उतंग॥
एक दूसरी सों, जहाँ खाइ चपेट तरंग॥
अति अगाध बिलसत सलिल, छुटा अटल अभिराम।
मन-भावन पावन परम, ते सरि-संगम धाम॥ २८॥

[जाते हैं]

———

अंक ३

अथ विष्कम्भक

(तमसा और मुरला दो नदियों का स्त्री-रूप में प्रवेश)

त०—सखि मुरला, यहाँ कैसे फिर रही हो।

मु०—प्यारी तमसा, भगवान अगस्त ऋषि की पत्नी लोपामुद्रा ने मुझे नदी-शिरोमणि के पास यह कहने भेजा है कि तुम जानती हो कि रामचन्द्र जी जब से वधू सीता से अलग हुए हैं तब से—

> कहत न काऊ सुहृद सों, बिथा राम गंभीर।
> तासों दिन दिन बढ़ति तिन, गूढ़ सघन मन पीर॥
> यथा धातु पुटपाक में, कोउ जबै धरि जात।
> भीतर ही भीतर जरति, बाहिर कछु न लखात॥ १॥

इसलिए उन सरीखी प्राणप्यारी विदेह-कुमारी पर महान कष्ट पड़ने के सोच में और उनके दुस्सह अथाह वियोग-संताप के कारण रामचन्द्र इन दिनों ऐसे दुर्बल हो गये हैं कि उनको देख कर मेरा हृदय काँपता है। और फिर अब लौटते समय वह पंचवटी में आवेंगे तो वे प्रदेश अवश्य उनके दृष्टिगोचर होंगे जो प्रिया:प्रीतम दोनों के स्वच्छन्द बिहार के साक्षी हैं। धीर-वीर गम्भीर रामचन्द्र के मूर्च्छित होने की पद पद पर आशंका

है, इसलिए भगवती गोदावरी आपको उस समय अत्यन्त सावधान रहना होगा:—

जब राम खेद समेत हों,
पुनि पुनि विकल गत चेत हों।
तब तब कमल परिमल भरी,
सरि-सीकरनु-सीतल करी।
मृदु मन्द पौन चलाइयो,
सुठि उनहिं चेत कराइयो॥ २॥

त०—भगवती का विचार तो प्रेमानुकूल है किन्तु रामचन्द्र के मोह दूर करने का कारण तो पहले ही से विद्यमान है।

मु०—सो कैसा?

त०—सुनिये, जब लक्ष्मण वाल्मीकि के तपोवन के पास सीता को त्याग कर चले आये, तब वह प्रसव की विपुल-वेदना से घवड़ा कर गंगा जी की धारा में कूदपड़ीं। वहीं उनके दो बालक हुए, जिन्हें अत्यन्त अनुग्रह-पूर्वक भगवती वसुन्धरा और भागीरथी रसातल को ले गयीं। और मा का दूध छूटते ही देवी जाह्नवी ने स्वयं दोनों बालक महर्षि वाल्मीकि के अर्पण कर दिये।

मु०—[आश्चर्य से]

सिय सम जन की विपतहू, अचरज-जनक लखाय।
वालमीकि, भुवि, गंग से, करत जासु हित आय॥ ३॥

त०—और अभी सरयू के मुख से शम्बूक-बध-वृत्तान्त सुनने के कारण रामचन्द्र के जनस्थान में आने की सम्भावना सुनकर, स्नेहमयी लोपामुद्रा के समान, ऐसे ही भय और शंका से प्रेरित होकर भगवती भागीरथी सीता समेत किसी गृह-कार्य के बहाने गोदावरी से मिलने आई हैं।

मु०—भगवती भागीरथी का विचार बहुत ठीक है, क्योंकि राजधानी में अनेक लोकोन्नति साधनों की सफलता-के लिये सतत-कार्य में मग्न रहने से रामचन्द्र का चित्त बहला रहता है। और अब बिना किसी काम-काज के उनका निरन्तर शोकावस्था में पञ्चवटी आना महा अनर्थकारी होगा, सो बतलाइये सीता देवी ऐसी दशा में उनका किस प्रकार आश्वासन करेंगी।

त०—इसीलिए तो भागीरथी ने सीता से कहा है कि बेटे यज्ञात्मजा वैदेही, आज चिरंजीवि कुश-लव की बारहवीं वर्षगाँठ का दिन है, इस हेतु अपने पुरातन श्वसुर, राजर्षि, मनुवंश के प्रवर्तक, पापनाशक सूर्यदेव की पूजा निज हाथों के चुने हुए प्रफुल्लित पुष्प से करो। हमारे प्रभाव से पृथ्वी पर विचरते हुए तुमको वन की देवियाँ भी नहीं देख सकेंगी, मनुष्य की तो क्या सामर्थ्य है।" यों आवश्यकतानुसार सीता उनका आश्वासन कर सकेंगी और उन्होंने मुझसे भी कहा कि "तमसा, तुमसे सीता का अत्यन्त अनुराग है, इससे तुम उसकी

सहचरी होकर रहना ।" सो जैसी मुझे आज्ञा मिली है
उसका पालन कर रही हूँ ।

मु०—मैं भी यह वृत्तान्त भगवती लोपामुद्रा से निवेदन करदूँ
मेरी समझ में अब रामचन्द्र भी आगये होंगे ।

त०—और यह देखो गोदावरी-ह्रदय से निकल कर—

पियरी परी ओप कपोलन की, तन में दुबराई बढ़ी अति भारी ।
लटकाएँ लटें बिखरी मुख पै, उर सोचति मोचति लोचनवारी ॥
अति दीसनि आकुल सोगमनो, करुना-रस की जनु मूरति प्यारी ।
तन धारी वियोग-बिथा सी किधौं, बन आइ रही मिथलेस दुलारी ॥४॥

मु०—क्या यह वही है ?

अति दीर्घ दारुन ताप बस सिय-हिय कमल अकुलाइ ।
हा ! विबस विलुनिन मुग्ध किसलय-सम गयी कुम्हिलाइ ॥
दुबरी परी तन पीयरी इमि, कार की लहि घाम ।
जिमि केतकीसुम-गर्भगत मृदु पंखरी अभिराम ॥५॥

[जाती हैं]

[इति विष्कम्भक]

[नेपथ्य में]

[बड़ा ही अनर्थ हुआ ? बड़ा ही अनर्थ हुआ !!]

[फूल चुनते हुए करुणा और उत्कण्ठा के साथ सुनती हुई सीता का प्रवेश]

सी०—अरे ! ये बोल तो मेरी प्यारी सहेली वासन्ती-का-सा
लगता है । [फिर नेपथ्य में]

[जो जानकी कर कलित कोमल सल्लकी परनानि सों ।
करभक पल्यो लहकास निज सुण्डाग्र चंचल वानि सों ॥

सी०—[सुनकर] सो उसका क्या हुआ ?

[फिर नेपथ्य में]

क्रीड़त करिनि संग कुललि प्रमुदित परम सो सर में रह्यो।
तिहि मत्त इक मातंग बल सन रुरि लरि मारन चह्यो ॥६॥

सी०—[घबराती हुई दो चार पद चल कर] बचाओ आर्यपुत्र ! मेरे उस बच्चे को बचाओ [सुधि करके घबराहट से] हाय! हाय !! वे ही बातें जिनके कहने का स्वभाव-सा पड़ गया था अब फिर पंचवटी को देखकर सहसा मेरे मुख से निकलती हैं। हा आर्यपुत्र !

[मूर्छित होती हैं]

त०—धीरज धरो बेटी, धीरज धरो—

[नेपथ्य में]

[हे विमानराज यहीं पर ठहरजाओ]

सी०—[हृदय सँभाल कर भय और उन्माद से] जल भरे गरजते हुए धाराधर की मधुर गम्भीर ध्वनि के समान यह सरस वाणी कहाँ से आई जिसके कान में पड़ते ही तुरन्त मुझ अभागिनी में जान-सी पड़ गई है।

त०—[स्नेह से आँसू भर कर]

कितहुँ सों लहि अस्फुट नाद कों,
कवन हेत सिया अस तू भई।
चकित चंचल और उतकण्ठिता,
जिमि घनी धुन की सुनि मोरिनी ॥ ७ ॥

सी०—क्या कहा ? माता ! यही कि स्फुट नहीं है, मुझे तो बोल सुन कर ऐसा लगा कि स्वयं आर्यपुत्र हो हैं।

त०—सुना तो गया है कि इक्ष्वाकु-वंशी राजा श्री रामचन्द्र जन-स्थान में शूद्र तपस्वी को दण्ड देने आये हुए हैं।

सी०—धन्य धन्य महाराज अपने राजधर्म में दृढ़ बने हुए हैं।

[नेपथ्य में]

झर-झर-झर झरना झरत, जिहि गुफानि सब काल।
गोदावरि सर-तट मिली, यह सोई गिरि-माल॥
प्रिया संग बहुतक दिवस, बितये याही ठाम।
द्रुम मृग हू जहँ के लगत, मेरे सुहृद ललाम॥ ८॥

सी०—यह तो आर्यपुत्र ही हैं! हाय प्रभात समय के शशि-मण्डल की भाँति इनके मुख-मण्डल की कान्ति फीकी पड़ गई है, बिरह से सूखकर शरीर काँटा होगया है, बस गाम्भीर्य की झलक-मात्र ही शेष बच रही है, इसी से पहचाने जा सकते हैं। माता! मुझे सँभालना, यह हृदय-विदारक दृश्य नहीं देखा जाता!!

[तमसा से लिपट कर मूर्छित होती है]

त०—[सीता को साध कर] धैर्य धरो बेटी, बेटी धैर्य धरो!

[नेपथ्य में]

[इस पंचवटी के देखने से]

भीतर ही भीतर घुमड़ि, मोह धुआँ बे पीर।
प्रथमहिं दुख-लौ उठन के, व्यापत सकल सरीर॥ ६॥

[हाय प्यारी जानकी]

त०—[आप ही आप] इसकी तो गंगाजी को भी आशंका थी।

सी०—[नेपथ्य की वाणी सुनकर] हाय यह क्या हो गया !

[फिर नेपथ्य में]

[हाय मेरी दंडक वन की संगिनी ! हाय, प्यारी विदेह-नन्दनी !...]

[मूर्च्छित होकर गिरने का शब्द होता है]

सी०—हाय धिक्कार है ! मुझ अभागिनी का नाम लेते लेते निज नील-नीरज-नयनों को बन्द कर आर्यपुत्र अचेत हो गये हैं। हाय ! पृथ्वी पर अधीर होके कैसी अशरणावस्था में पड़े हुए हैं. भगवती तमसा रक्षा करो, किसी तरह इन्हें प्राण-दान दो।

(चरणों पर गिरती है)

त०—आप तुही कल्यानि उठि, रामहिं चेत कराउ।
तुव प्रिय सुपरस करहि मैं, तिन जीवन सदुपाय ॥१०॥

सी०—चाहे जो कुछ कहो, आपकी आज्ञा का अवश्य पालन करूँगी !

[शीघ्रता पूर्वक जाती है]

(स्थान—जनस्थान)

(सान्हाद साँस लेते तथा सजल-नयन सीता से छुए जाते हुए राम पृथ्वी पर पड़े दिखलाई पड़ते हैं, तमसा खड़ी है)

सी०—[कुछ हर्ष से आप ही आप] मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि त्रिलोकीनाथ को फिर चेत आया।

रा०—[कुछ चेत में आकर आप ही आप] अहा, यह क्या है!

यह कल्पतरु-पल्लव मृदुल की सुठि किधौं रस-धार है।
किम्वा सुधाकर-किरन निचुरथो सुखद सुन्दर-सार है॥
संतप्त जीवन-विटप हित के सघन घन बरषा भली।
सरजीविनी धौं मूरि यह जासों खिली मो हिय-कली॥११॥
अवसि परसन यह वही कहुँ जासु परिचय मैं लह्यो।
सरल, संजीवन, विमोहन मंजु जो मन को रह्यो॥
सन्ताप मूर्च्छा प्रबल कों यह तुरत ही बिनसाइ कें।
आनन्दमय कछु और मोहहिं देत तन उपजाइ कें॥१२॥

सी०—[भय और करुणा से काँपती हुई पीछे उठकर के] अब मेरे लिए इतना ही बहुत है।

रा०—[बैठकर] क्या करुणामयी सीता देवी ने मेरे ऊपर अनुग्रह किया है।

सी०—[आप ही आप] हाय! हाय! तो क्या अब आर्यपुत्र मुझे ढूँढ़ेंगे।

रा०—सम्भव नहीं, तथापि मालूम तो ऐसा ही होता है।

सी०—भगवती तमसा, अब हमें यहाँ से दूर हो जाना चाहिए नहीं तो आज्ञा बिना मुझे अपने पास देख महाराज कोप करेंगे।

त०—बेटी, भगवती भागीरथी के वरदान से तुम्हें वनदेवियाँ भी नहीं देख सकतीं, फिर रामचन्द्रजी देख लेंगे ऐसी शंका क्यों करती हो।

सी०—हाँ यही बात है।

रा०—हाय प्यारी जानकी ! प्राणवल्लभा जानकी !

सी०—(प्रणय-पूर्वक कोप करती हुई गद् गद् स्वर से आप ही आप) आर्यपुत्र ! आपका यह सब कोरा दिखावा है, आप करते और हैं कहते और हैं। (आँसू भरकर) अथवा हाय ! मुझ वज्रमयी अभागिनी का नाम ले-लेकर पुकारते हुए आर्यपुत्र के संग, जिनका शुभ-दर्शन जन्मान्तर में भी दुर्लभ था, ऐसी दशा में कब उचित है कि मैं निर्दयता का वर्ताव करूँ इनका और मेरा हृदय तो एक ही है।

रा०—(चारों ओर निराशा के साथ देखकर) हाय यहाँ तो कोई नहीं है।

सी०—भगवती तमसा, इन्होंने मुझे अकारण परित्याग भी कर दिया है, पर तो भी इन्हें इस प्रकार देख कर मेरी हृदयावस्था कुछ और ही हो रही है, जिसे मैं न जानती हूँ और न कह सकती हूँ।

त०—बेटी, मैं इसे जानती हूँ।

निज-पीतम-प्रेम-समागम की नहिं आस, उदास भरी दुचिताई।
अपराध बिना निरवासित ह्वै, तन छीन वियोग मलीन सदाई॥
बिरहागि बिथा सहि भारी अबै, तिहि देखत भेटन को अकुलाई।
सुनिकै दुख की बतियाँ पियकी, सरला जियकी छतियाँ भरिआई॥१३॥

रा०—देवी,

सरस सीतल तो कर-परसिबो,
जनु सदेह सनेह प्रसन्नता।
अजहुँ मो मन रंजन जो करै,
कित गई पुनि तू हिय-हारिणी॥१४॥

सी०—(आप ही आप) यद्यपि निष्कारण अपने परित्याग किये जाने का तीर हृदय में खटकता है, तथापि प्राणनाथ के अगाध स्नेह भरे, आनन्द बरसाते हुए, ये वचन सुनकर मैं अपने जन्म को सार्थक समझती हूँ।

रा०—हाय ! किन्तु प्रियतमा यहाँ कहाँ से आई, यह तो केवल प्रियाचिन्तन के निरतिशय अभ्यास से पैदा हुए राम के मन का भ्रम-मात्र है।

(नेपथ्य में)

(हा बड़ा अनर्थ हुआ ! हा बड़ा अनर्थ हुआ !!

जो जानकी कर कलित······(पूर्वार्द्ध सुना जाता है)

रा०—(करुणा और उत्कण्ठा से) सो उसका क्या हुआ ?

(फिर नेपथ्य में)

क्रीड़त करिनि सँग······(उत्तरार्द्ध सुना जाता है)

सी०—(आपही आप) हाय उसका बचाने वाला कौन है किसे भेजूँ।

रा०—कहाँ है वह दुरात्मा कहाँ है, जो स्व-बधू के संग क्रीड़ा करते हुए प्यारी के गज-शावक पर आक्रमण करता है।

(ऐसा कह कर उठ खड़े होते हैं)

(दूसरी ओर से भयातुर वासन्ती का प्रवेश)

वा०—(आपही आप) क्या महाराज रघुनाथ जी आये हैं।

सी०—(आपही आप) क्या मेरी प्यारी सहेली वासन्ती है।

वा०—जय हो, महाराज की जय हो !

रा०—[पहचान कर] क्या प्रिया की सखी वासंती है।

वा०—महाराज, शीघ्र चलिये जटायुगिरि की शिखर से सीधे हाथ की ओर सीतातीर्थ के आगे गोदावरी में धँसकर देवी जानकी के पुत्र की रक्षा कीजिये।

सी०—[आपही आप] हाय, तात जटायु, आज आपके बिना यह जनस्थान सूना-सा लगता है।

रा०—[आपही आप] हाय, वासन्ती के वाक्य तो बड़े ही मर्म-भेदी हैं।

वा०—इधर आइये महाराज, इधर।

सी०—भगवती तमसा ! क्या सचमुच ही बनदेवियाँ भी मुझे नहीं देख सकतीं।

त०—अरी बेटी, मन्दाकिनी देवी का प्रताप सब देवताओं से बढ़ कर है, फिर तुम बार बार क्यों डरती हो !

सी०—तो चलो हम भी पीछे पीछे चलें।

[सब जाते हैं]

(स्थान-जनस्थान, गोदावरी तट)

[एक ओर से राम और वासन्ती का तथा दूसरी ओर से सीता और तमसा का प्रवेश]

राम—[आते हुए] भगवती गोदावरी ! आपको नमस्कार है।

वा०—बधाई देती हूँ महाराज, यह सुनकर प्रसन्न हूजिये कि आपकी जानकी देवी का पुत्र स्व-वधू सहित जीत गया।

रा०—चिरंजीव, तुम्हारी विजय हो।

सी०—[आपही आप] अरे यह तो इतना बड़ा हो गया!

रा०—[आपही आप] देवी तुम बड़भागिनी हो—

नव-कंज कोमल कलित-कलिकन सम दसन की कोर सों।
सुठि लवलि-पल्लव लेतु जो तुम ललित कानन-छोर सों॥
मद स्रवत वारन गन बिजेता नवल नित यौवन-छयौ।
अब तरुन-बैस-प्रमोद-भाजन पुत्र तुव प्यारौ भयौ॥१२॥

सी०—चिरजीव रहो बेटा, अपनी प्यारी हथिनी के साथ निरंतर सुख भोगो।

रा०—देखो वासन्ती, बच्चे ने अपनी प्यारी के रिझाने में कैसी निपुणता प्राप्त की है।

कौतुक सों तोरिके मृनाल पुंज कौर नीके,
करिनी के मुख माहिं मंजुल खवावै हैं।
फूले कंज तिन सों सुवासित तड़ाग-नीर,
बीच बीच करिके कलूला, दौरि प्यावै है।
लहकाय सूँडि चारु अम्बुकन बिधुराइ,
जैसी मन चाहे वाहि वैसे ही न्हवावै है।
सरल सुनाल वारी नव-नलिनी को पात;
गहिकैं सप्रेम पुनि छत्तरी लगावै है॥१३॥

सी०—भगवती तमसा, जब यह इतना बड़ा होगया है तो न जाने कुश-लव कितने बड़े हुए होंगे।

त०—जैसा यह है वैसे ही होंगे।

सी०—हाय, मैं ऐसी अभागिनी हूँ कि केवल आर्यपुत्र ही से नहीं किन्तु पुत्रों से भी अलग हूँ।

त०—भाग्य में ऐसा ही बदा था।

सी०—मैंने पुत्र जन के क्या किया जो छोटे छोटे विमल कोमल कान्तिमय, श्वेत दसनावली द्वारा दीप्त कपोल वाले निरंतर मधुर मनोहर मुसकराते हुए काकपक्ष [जुल्फें] रखाएँ मेरे पुत्रों के युगल मुख-कमल का आर्यपुत्र ने अच्छे चुम्बन न किया।

त०—भगवान सब भला करेंगे।

सी०—भगवती तमसा, प्यारे पुत्रों का स्मरण करने से मेरे स्तनों में दूध भर आया है और उनके पिता के निकटवर्ती होने से मैं क्षणमात्र के लिए संसारिणी हो गई हूँ।

त०—इसमें क्या कहना है, सन्तान तो स्नेहातिशय की परा-काष्ठा तथा माता-पिता के परस्पर अन्तःकरण का बन्धन है:—

लहि सनेह अनुरूप जबै दम्पति हिय पावन।
जुरत एक गुन आइ दुहुँ दिसि सों मन-भावन॥
नित आनन्द मय ग्रन्थि अटल अनुपम जो प्यारी।
'नन्दन' कहियत सोइ सुभग सुन्दर सुखकारी॥१७॥

वा०—महाराज इधर भी देखिये—

नव जोवन जोर उमंग छयो, निज नाचन में जिय उच्छव भारो।
चलि चाल मनोहर चारु कलोलत लोल नई नई पाँखन वारो॥
करि ऊँची सिखाएँ कदम्ब पै सोहत, मानो मनीन को मोर सँभारो।
जब नाचि चुके तब कूक अलापत, लागे सिखी ये सखी को पियारो॥१८॥

सी०—[कौतुक से आँसू भर कर आप ही आप] वही है! यह वही है!!

रा०—आनन्द करो बेटा, आनन्द करो।

सी०—[आप ही आप] ऐसा ही हो।

रा०— तुम ज्यों ज्यों भम्यो फिरकैयुन लै,
प्रिया भौंह चलाय सिहायो करी।
कछु मारि दृगांचल चंचल-सी,
पुतरीन प्रबीन फिरायो करी।
कर पल्लव तारी बजायो करी,
हँसि तोहि समोद नचायो करी।
सुत आज लखाई पर्‌यो जब सों,
अबलों सुधि तेरी सतायो करी॥१९॥

अहा पचियों को भी बड़ी पहचान रहती है—
बिरवा यह नीप को नीको लसै,
चहुँ चारु प्रसून कछूकन छायो।
निज हाथ लगाय प्रिया के उछाह सों,
दै जल याहि सनेह बढ़ायो॥२०॥

सी०—[देख के आँसू भर आप ही आप] इसे आर्यपुत्र ने खूब पहचाना—

रा०—सिय की सुधि राखनु जानि परै,
जिय में यह मोर पहारी सुहायौ।
नित या संग मान नतैती कछू,
तिहि पै करैं आनि प्रमोद सवायो ॥२१॥

वा०—महाराज यहाँ पर बैठिये—
बुही दीसति चीकनी चोखी सिला,
कदली द्रुम-सी चहुँ ओरन छाई।
सिय संग जहाँ तुम सोवत हे,
बतरात बिनोद भरे सुखपाई।
अरु बैठि जिन्हें तृन नूतन दै,
तुव प्यारी चरावत चारु सुहाई।
अबलौं मृग वे तनु घेरे रहैं,
कहुँ अंत न बैठति ताहि बिहाई ॥२२॥

रा०—अब तो यह देखा नहीं जाता [रोते हुए दूसरी जगह बैठते हैं।]

सी०—[आप ही आप] सखी, वासन्ती ! इन्हें दिखाकर तुमने मेरी और आर्यपुत्र की यह क्या दशा करदी। हाय हाय यह वे ही आर्यपुत्र हैं, वही पंचवटी है, वही प्यारी सखी वासन्ती है, वही विविध स्वच्छन्द विहारों के साक्षी गोदावरी समीपवर्ती प्रदेश हैं, ये ही प्राणों से प्यारे पुत्र के समान पाले-पोषे तरु-पक्षी-मृग हैं, वही मैं

हूँ; पर हाय मुझ अभागिनी को दीखते हुए भी यह सब का सब सूना जान पड़ता है। हाय भाग्य के फेर से संसार में कैसा फेर पड़ गया है।

वा०—सखी सीता तुम कहाँ हो जो देखती भी नहीं कि राम की क्या दशा हो रही है!

नीलोत्पल दल सम नवल तन जासु सुन्दर साँवरो।
नयनोत्सव-प्रद, लखत रुचि सों नित नयो गुन आगरो।
अति सोच सों व्याकुल बुहो परि पीयरो दुर्बल बन्यो।
जान्यो परत ना काउ बिधि तउ लगत सुन्दरता-सन्यो॥२३॥

सी०—[आप ही आप] देखती हूँ।

त०—देखती रहो! अपने प्रियतम को देखती रहो!!

सी०—[आप ही आप] हा दैव, ये मेरे विना, या मैं इनके बिना रहूँगी यह स्वप्न में भी किसे सम्भावना थी, इस क्षण तो मानो दूसरे जन्म में इनका दर्शन मिला है इसीलिए पल भर आँसू रोक कर अच्छी तरह प्यारे आर्यपुत्र को देख तो लूँ।

त०—[सप्रेम आँसू भर कर और सीता को छाती से लगा कर]

प्रिय-दरस-सुख अरु बिरह-दुख सों अश्रु अबिरल ढारती।
तिहि रूप-प्यासी बिगत-अंजन, नयन निज बिसतारती।
तुव मधुर मंजुल मुग्ध हेरनि, दुग्ध-सरि सम पावनी।
सुचि करति अभिसेचन पिया को प्रनय रस सरसावनी॥२४॥

वा०—मधु बरसावत बिपिन-द्रुम देहु सब,

फूल औ फलनि के अरघ मन भाये हैं।

संग में आमोद खिले-कंजनु को लैकें मंजु,

मोद सों पवन करौ बीजना सुहाये हैं॥

चहकि चहूँ धा पंछी गाओ कल-कंठिन सों,

बैतालिक जनु ताल के उमंग छाये हैं।

राजोचित सनमान साजो सब क्यों सु आज,

महाराज राम पुनि यहि बन आये हैं॥२५॥

रा०—सखी वासन्ती, आओ यहीं बैठो।

वा०—[बैठ कर आँसू भरकर] महाराज, कुमार लक्ष्मण तो अच्छे हैं?

रा०—[अनसुनी करके]

कर कमल सों दै नीर औ नीवार नव तृन बिधि भली।
पादप बिहँग कुरंग पोसे चाउ चित जे मैथिली॥
तिन देखिकैं जिय सोच व्यापत अकथ अति दुख की कथा।
करि बज्रहिय कोऊ बिदारन, साल सालत सर्बथा॥२६॥

वा०—महाराज! मैं पूँछती हूँ कुमार लक्ष्मण तो कुशल से हैं?

रा०—(आप ही आप) अरे इस 'महाराज' के कहने में तो बड़ी व्याज-स्तुति भरी है, यह तो केवल स्नेह-शून्य सम्बोधन है। बस लक्ष्मण की ही कुशल पूछने में इसका कण्ठ भर आया है और नेत्रों से नीर बहने लगा, इससे हो न हो, यह सीता का भी सब वृत्तान्त जान गई है [प्रगट] हाँ, कुमार अच्छी तरह हैं।

वा०—हे देव, आप ऐसे कठोर क्यों हो गये।

सी०—[आप ही आप] सखी वासन्ती, ऐसे ताने क्यों मार रही हो, आर्यपुत्र से तो सब को ही मीठा बोलना चाहिए, और विशेष कर तुमको जो हमारी प्यारी सखी हो।

वा०—"तुमही जियप्रान सबै कछुहो तुमही मम दूजो हियो सुकुमारी।
तुमही तन काज सुधा-सरिता इन नैननि को तुमही उजियारी॥"
हियभोरे की योहीं लई भरमाइकें बात बनाइ पियारी पियारी।
पुनिता सियको...
बस मौन भलो, अब होन कहा कहिबे सों अगारी॥२७॥

[मूर्च्छित होती है]

रा०—(आप ही आप) पूरा भी न कहने पाई कि मूर्च्छित भी हो गई (प्रगट) सखी धीरज धरो, धीरज धरो!

वा०—तो आपने ऐसा अयोग्य कार्य क्यों किया?

सी०—(आप ही आप) सखी वासन्ती, रहने दो इसमें क्या रक्खा है।

रा०—क्या करूं दुनियाँ तो मानती ही न थी।

वा०—उसका कारण?

रा०—वे ही जानें।

त०—(आप ही आप) उलाहना बहुत ठीक है।

वा०—तिहारो जो प्यारो, स्वजस निरमोही यदि महा।
सिया के त्यागे सों, कुजस अति भारी अरु कहा?

भला बीती कैसे, मृगनयनि पै वा विपिन में।
अहो स्वामी दीजै, उतर यहि को सोचि मन में॥ २८॥

सी०—(आप ही आप) सखी वासन्ती, तुम बड़ी कठोर हो जो दुखी आर्यपुत्र को और भी दुख दे रही हो।

त०—वह कुछ थोड़ा ही कह रही है, स्नेह और शोक उससे सब कहला रहा है।

रा०—सखी, इसके सिवाय और क्या कहूँ—

मृग-सावक के से बिलोल महा भय-पूरित चकित लोचन वारी।
अरु कम्पित गर्भ के भार सों ओअलसाइ रही तन में अति भारी॥
मृदुमंजु मृनाल-सी कोमल जो नित चंदसों जाकी दुचंद उज्यारी।
बन बीच काऊ रजनीचर नीच ने सुन्दरी सोई विनासि के डारी॥२६॥

सी०—(आप ही आप) आर्यपुत्र! मैं तो जीती जागती हूँ।

रा०—हाय! प्यारी जानकी तुम कहाँ हो?

सी०—हाय! हाय!! आर्यपुत्र तो बिलख बिलख कर रो रहे हैं!

त०—बेटी, दुखिया के पास अपना दुख दूर करने को रोना ही एकमात्र उपाय है क्योंकि—

उपटि पूर्ण तड़ाग जबै भरै।
जल निकासन तासु प्रतिक्रिया॥
विपुल शोक व्यथा मधि हू तथा
रुदन धीरज को सदुपाय है॥ ३०॥

और विशेष करके राम को तो यह संसार अनेक रूप से दुखदायी हो रहा है।

चित लगाय इत पालिबो, प्रजा नीति अनुकूल।
उत प्यारी-बिरहा-तपनि, कुम्हिलानो जिय फूल॥
तजि तिहकों अब अपुहि पुनि, करत बिलाप बनै न।
जियत अजहुँ, यहि सों प्रगट, रोदन निरफल है न॥२१॥

रा०—हाय बड़ा कष्ट है।

प्रिय-बियोग छाती फटैं, आवति पै न दरार।
काया तजै न चेतनहिं, बेसुधि बिकल अपार॥
जरति, करति पै भसम ना, दौं लागी तन माहिं।
हृदय बिदारतु निरति बिधि, निरदय मारत नाहिं॥२२॥

सी०—प्रिय-वियोग ऐसा ही होता है।

रा०—हे पुरवासियो!

जब राज-मन्दिर में बसत सिय हा! तुम्हें भाई नहीं।
तृन सम तजी बन बिजन में तउ मन बिथा छाई नहीं॥
तिह संग के इन बास-थल ने बिकल अब मोकों कियो।
यह हेतु रोवन काज चाहतु आज तुव आयसु लियो* ॥२३॥

त०—(आप ही आप) शोक-सागर का अति गम्भीर और बड़ा भारी अनिवार्य भ्रमर है!

---

* रोवत असर नहिं लखि पसीजत क्यों न तुव बज्जुर हियो।

वा०—महाराज, बीती को बिसार कर धीरज धरना चाहिए।

रा०—सखी क्या कहती हो—धीरज !

बीत गये बारह बरस, बिन सीया-सो बाम।
तासु नाम तक हू मिट्यो, जियत तऊ यह राम ॥२४॥

सी०—आर्यपुत्र की इन बातों ने मुझे मोह लिया है।

त०—यथार्थ है बेटी—

प्रेम पगे जासों परम, जिय की रुचि सरसात।
दारुन सोक समूह सुनि, अति अप्रिय दरसात ॥
तेरे पिय के बचन मृदु कटु जुगल अपार।
का नहिं डारत तुव हिये, अमिय गरल की धार ॥२५॥

रा०—सखी वासन्ती,

तीखी मनु तिरछी अनी, बरछी की बिसखीन।
का हिय गाड़ी सोक की, मैंने बिथा सही न ॥२६॥

सी०—(आप ही आप) मैं ऐसी मन्दभागिनी हूँ कि जिसके कारण बारम्बार आर्यपुत्र को दुःख होता है।

रा०—बड़ी धीरतापूर्वक अपने हृदय को थाम लेने पर भी पूर्व परिचित अनेक प्रिय पदार्थों के देखने से दुःख का आवेग आज फिर अनिवार्य होगया।

छुभित बिचंचल सोक की, हिय में उठति हिलोर।
रुकत न तिहि कैसेउ किये जो जो जतन कठोर ॥

छायो चित्त विकार, तिनहुँ तोरि अकथित कोऊ।
हरत प्रबल जलधार, जिम दृढ़ भिकता सेतु कों ॥३७॥

सी०—(आप ही आप) आर्यपुत्र का ऐसा दुर्निवार्य दुस्सह दुःखावेग देखकर मेरा हृदय भी इस समय अपना दुःख भूल कुछ जड़ित स्तम्भित-सा होगया है।

वा०—(आप ही आप) महाराज की बड़ी शोचनीय अवस्था होगई है किसी दूसरी ओर चित्त बटाना चाहिए। (प्रगट) हे देव, अब चिरपरिचित जनस्थान के भागों को देख कर अपना मनोरंजन कीजिये।

रा०—अच्छा, यही कर।

सी०—(आप ही आप) सखी जिन्हें मनोविनोद का उपाय समझती है वे उलटे और दुःख की आग भड़काने वाले हैं।

वा०—(करुणा से) हे नाथ,

याही लता-गृह तुम प्रिया की बाट हेरी, जो घनी।
गोदावरी तट निरखि हंसनि, ठिठक रही कौतुकसनी॥
आवत कछुक तुव मलिन मन लखि, जीय-कातर मैथिली।
जोरी जुगल कर कलित कोमल कमल कुडमल अंजली ॥३८॥

सी०—(आप ही आप) सखी, तुम्हारा हृदय बड़ा कठोर है जो तुम हृदय में लगे मर्मभेदी शोक-शल्यों को बार बार कुरेद कर मुझ मन्दभागिनी तथा आर्यपुत्र को व्यथित करती हो।

रा०—हे कठोर हृदय जानकी, इन दृश्यों के देखने से यह लगता है कि तुम यहीं कहीं विचर रही हो, फिर मुझ अभागे पर दया न करने का क्या कारण है:—

हा हा! प्यारी फटत हृदय यह जगत सून्य दरसावै।
तन-बन्धन सब भये सिथिल से अन्तर-ज्वाल जरावै॥
नां बिन जनु डूबत जिय तम में, छिन छिन धीरज छीजै।
मोहावृत सब ओर राम यह, मन्द-भाग्य का कीजै॥३१॥

(मूर्छित होते हैं)

सी०—हाय हाय आर्यपुत्र फिर बेसुध हो गये!

वा०—धीरज धरो महाराज, धीरज धरो।

सी०—(आप ही आप) हा, आर्यपुत्र केवल मुझ अभागिनी के लिये समस्त संसार के मंगलाधार रूप आपका जीवन प्रतिक्षण दारुण संशयावस्था में पड़ रहा है, इससे बड़ी भारी विपत्ति की आशंका उपस्थित हुई है। हाय, अब मैं क्या करूँ।

त०—बेटी, घबड़ाने का काम नहीं है रामचन्द्र का पुनर्जीवन तुम्हारे ही पाणि-पल्लव के स्पर्श से होगा।

वा०—(आप ही आप) क्या अभीतक चेत नहीं हुआ! हाय प्यारी सखी सीता तुम कहाँ हो! अपने प्राणेश्वर की रक्षा करो।

सी०—(शीघ्रता से पास जाकर राम का हृदय और ललाट छूती है)

वा०—अहा रामचन्द्र को फिर चेत लौट आया !

रा०—मनहु अमिय-मय-लेपसों, लेपत मरम सुहातु।
मनै भीतरी बाहरी, मो सरीर की धातु॥
आचकहीं प्रिय परम यह, पुनरपि प्रानहिं लाय।
और कछु विधि को सुखद, देत मोह उपजाय॥४०॥

(आनन्द से नेत्र बन्द करके) सखी वासन्ती, फिर भाग्य उदय हुआ !

वा०—कैसे महाराज ?

रा०—सखी कैसे क्या ? जानकी फिर प्राप्त होगई है।

वा०—सो कहाँ है महाराज ?

रा०—(स्पर्श-सुखानुभव करते हुए) देखो यहीं तो है आगे।

वा०—महाराज, इन अपने मर्मभेदी दारुण प्रलापों से मुझ अभागिनी को क्यों दुखित करते हो, मैं तो आप ही सखी के दुख में जल रही हूँ।

सी०—(आप ही आप) मैं अब हटना चाहती हूँ किन्तु अविचल अनुरागभरे, प्राणनाथ के सुखद, शीतल, दीर्घ, दारुण-सन्ताप-हरण, स्पर्श से पसीज कर काँपता हुआ यह मेरा हाथ जहाँ का तहाँ जड़ीभूत होकर ऐसा विवश होगया है, मानो किसी वज्रलेप से जुड़ गया हो।

रा०—सखी, इस में काहे का प्रलाप है।

ब्याह समय जो गह्यो मुदित-मन प्रथमहिं कंकन धारी।
चिरपरिचित जिह सुलभ सुधा-सी परसनि परम पियारी॥

सी०—(आप ही आप) आर्यपुत्र, अभीतक आप वही हैं।

रा०—हिम सम सीतल सीतल सुख-प्रद मृदुल मंजु मन भायो।

लगत तुही कर लह्यो ललित, जिन लवली दलहिं लजायो ॥४१॥

(ऐसा कहकर पकड़ते हैं)

सी०—(आप ही आप) हाय हाय, प्राणपति के प्रियस्पर्श से मोहित होकर मुझ से चूक हो गई।

रा०—सखी वासन्ती, आनन्द के मारे मेरी इन्द्रियाँ अपने अपने कर्त्तव्य पालन में शिथिल-सी हो गई हैं, मेरे बस की बात नहीं रही है, इससे थोड़ी देर तक इनके हाथ को तुम्हीं थामे रहो।

वा०—(आप ही आप) हाय हाय, इन्हें तो उन्माद हो गया !

(सीता जल्दी से हाथ छुड़ाकर दूर हो जाती है)

रा०—हाय अनर्थ हो गया।

सो जड़ कम्पित स्वेदमय, कर सन मन मुद-दानि।

छिटकि परयौ कित जड़ कँपत, तासु पसीजन पानि ॥४२॥

सी०—[आप ही आप] हा, अभी इनकी निगाह ठीक नहीं हुई है, ठीक ठीक वस्तु पहचानने में असमर्थ तथा चकराती-सी मालूम होती है—इससे जाना जाता है कि आर्यपुत्र अभी अपने आपे में नहीं आये हैं।

त०—[स्नेह से देख कर आप ही आप]

श्रम-सीकर-कन सों छयी, काँपति औ पुलकाति।

प्रिय-तन-परस उमंग सों, बेटी अस दरसाति ॥

जनु चलि चंचल पवन बस, घन बूँदन के भार।
मुकुलित कलित कदम्ब की, ललित डहडही डार ॥४३॥

सी०—[आप ही आप] अरे, अपने-आप पर अधिकार न रहने से मुझे तमसा जी के सामने लज्जित होना पड़ा, अपने मन में भला यह क्या कहेंगी कि कहाँ तो राम द्वारा इनका ऐसा परित्याग, और कहाँ उन पर इनके हृदय का ऐसा अनुराग!

रा०—[सब ओर देखकर] क्या यथार्थ में नहीं हैं, हाय वैदेही तुम बड़ी निठुर हो?

सी०—[आप ही आप] सचमुच मैं बड़ी निठुर हूँ, जो प्राणनाथ, तुम्हें ऐसी दशा में देख कर भी प्राण धारण करती हूँ।

रा०—[आप ही आप] देवी! कुछ तो पसीजो, मुझे ऐसी दशा में परित्याग करना तुम्हारे लिये योग्य नहीं है।

सी०—[आप ही आप] आर्यपुत्र, यह तो आप विपरीत कह रहे हो।

वा०—महाराज, धीरज धरिये, अपनी असाधारण धीरता को काम में लाकर गहरी वियोग-विथा में डूबे हुए अपने-आप को सम्हाले रहिये—भला यहाँ मेरी प्यारी सखी कहाँ!

रा०—[आप ही आप] व्यक्त रूप में जानकी नहीं है, होती तो क्या वासन्ती न देखती, तो क्या यह स्वप्न हुआ! रामचन्द्र के नैनों में निगोड़ी नींद कहाँ जो स्वप्न हो! बस, प्यारी से मिलने का जो निरन्तर ध्यान बना रहता

है इसी में पैदा हुआ निःसन्देह यह विकट उन्माद है जो मुझे अनेक कल्पनाओं में डाल कर बार बार सताता रहता है।

सी०—आर्यपुत्र की इस दशा का कारण मैं ही वज्र-हृदय वाली हूँ।

वा०—महाराज—

दसकंध को वह गृद्ध-ताडित लोहमय रथ देखिये
पुनि तासु खर-भीषन वदन कर असिध अब अवरेखिये॥
तिह-पंख हनि, रिपु लैगयो नभ-पंथ सों तुव भामिनी।
अति बिलबिलानी विवस पल पल दमकि, जनु घन-दामिनी†॥४४॥

सी०—[भय से आप ही आप] आर्यपुत्र तात जटायु को यह दुष्ट मारे डालता है और मुझे भी हरे लिये जाता है, आइये आइये शीघ्र बचाइये!

रा०—[शीघ्र उठ कर आप ही आप] महात्मा जटायु के प्राण को और सीता का हरने वाले अरे पापी! खड़ा तो रह कहाँ जाता है!

वा०—हे देव, राक्षसकुल-धूमकेतु, अभी तक आपका क्रोध ठंडा नहीं हुआ है।

सी०—(आप ही आप) हाय मैं भी पागल हो गई हूँ।

रा०—यथार्थ में अब के तो यह प्रलाप ही है।

अनुकूल-सुन्दर-जतन-मय, नित-बिरह-दुख अपनोद में।
यहु धीर-नासन-जनित अद्भुत वीर-भाव-विनोद में॥ X

† पल पल विकल दमकति विपुल जनु नवल घन में दामिनी।

अविदित-बिथा-कर, प्रिय-बिरह तब शम्बुक-वध लौं रह्यो।
अबको बियोग अथाह निरवधि जाइ कछु का विधि मह्यो ॥४५॥

सी०—(आप ही आप) यह निरवधि है तो हाय अब मेरे प्राण कैसे रहेंगे ?

रा०—(आप ही आप) हाय क्या करूँ—

जहाँ कपिराज सुग्रीव मित्रता बिफल,
बेअरथ दल-बल-बानर को भारी है।
कछु न प्रभंजन-कुमार की चलति जहाँ,
जामवान हू की बुद्धि थकति बिचारी है।
पथ न बनाय सकै बिसकरमा को पूत—
नल जिह राम की अकृत बलधारी है।
गति न लछिन बीर बानहु ने जानी तहाँ,
कहाँ जाय तू मम्हानी हाय प्राणप्यारी है ॥४६॥

सी०—(आप ही आप) इससे तो पहला ही वियोग अच्छा रहा।

रा०—सखी बासन्ती, अब जैसे जैसे प्रिय पदार्थों का दर्शन होगा वैसे वैसे राम का कष्ट बढ़ता ही जायगा, मेरे पीछे तुम कब तक रुदन करोगी। हाय, मैं ऐसा अभागा हूँ कि मेरा मिलना सुहृदों को भी दुःख पहुँचाता है इससे मुझे अब जाने दो।

सी०—(मोह और उद्वेग से तमसा के गले लग कर) तो क्या आर्य-पुत्र अब चले ही जायँगे।

त०—बेटी, हृदय सँभालो, हमें भी तो चिरंजीव कुश-लव की वर्षगाँठ का उत्सव करने भगवती भागीरथी के समीप जाना है।

सी०—माता, कुछ तो दया करके ठहरिये और क्षणभर मुझे इनके दर्शन कर लेने दीजिये, हाय, फिर मिलना कहाँ !

रा०—अश्वमेध यज्ञ के लिये मेरी भी एक सह-धर्म-चारिणी···

सी०—(घबराके आप ही आप) वह कौन है आर्यपुत्र ?

रा०—सीता की सुवर्णमयी मूर्त्ति है।

सी०—(आप ही आप) यथार्थ में आप स्वनाम-धन्य आर्यपुत्र ही हैं, उस परित्यागमयी लाज का काँटा अब मेरे हृदय से दूर हुआ।

रा०—उसी के दर्शन से शोकाश्रु बहाते हुए इन नयनों को शीतल करूँगा।

सी०—(तमसा से) वह धन्य है जिसका आर्यपुत्र इतना आदर करते हैं और जो इनका मनोविनोद कर संसार की सब सुमंगल आशाओं की आश्रय बनी है।

त०—[मुसकराती हुई स्नेह से सीता को गले लगाकर] बेटी, इस में तो तुम अपनी ही बड़ाई करती हो।

सी०—[सलज्ज नीचा मुख करके आप ही आप] भगवती तमसा से मैंने अपनी हँसी कराई।

वा०—इस समागम से आपको बड़ा कष्ट हुआ, मैं ही इस शोकोद्दीपन का कारण हुई—और जाने के लिये, जिसमें आपके कार्य की हानि न हो वैसा ही कीजिये।

सी०—[आप ही आप] वासन्ती ही मेरी वैरिन होगई।

त०—आओ बेटी चल।

सी०—[कष्ट से] जो आज्ञा।

त०—कैसे चलना हो, तुम्हारे तो—

बरसन के प्यासे अड़े, पिया दरस में नैन।
बड़े बड़े बहु जतन करि, टारे मोहुँ टरैं न॥ ४७॥

सी०—अपूर्व पुण्यों से प्राप्त हुए आर्यपुत्र के चरण-कमलों में बारम्बार अनेक प्रणाम हैं।

[मूर्च्छित होती है]

त०—बेटी धीरज धरो।

सी०—[सावधान होकर] हाय मेघाछन्न पूर्ण चन्द्रमा की भाँति प्राणनाथ के मुखचन्द्र का दर्शन-सा हो गया।

त०—कार्य-कारण के भाव में भी बड़ी विचित्रता है—

एक करुण ही मुख्य रस, निमित भेदसों सोइ।
पृथक् पृथक् परिणाम में, भासत बहुविधि होइ।
बुदबुद, भँवर, तरंग जिमि होत प्रतीत अनेक।
पै यथार्थ में सबनि को, हेतु रूप जल एक॥ ४८॥

रा०—विमानराज, यहाँ आइये।

[सब उठते हैं]

त० और वा०—[सीता और राम की ओर देखकर]

अब हम सबनि के सहित जननि-अवनि अरु मन्दाकिनी।
रवि, वाल्मीकि महामुनी जिन प्रथम ही कविता भनी॥
अति शिष्ट देव वशिष्ट सह, सहधर्मिनी, सब दुख हरैं।
कल्यान मान प्रदान-मय सब भाँति तुव मंगल करैं॥ ४९॥

अंक ४

अथ विष्कम्भक

[दो तपस्वियों का प्रवेश]

एक—सौधातकी, देखो आज अनेक अतिथियों के आने तथा उनके सत्कारार्थ यथोचित सामग्री उपस्थित होने से भगवान वाल्मीकि का आश्रम कैसा रमणीक लगता है, अहा !

चामर समा के तिन गुनगुनो नीको मॉड़
मृग निज हाल-ब्यानी हिरनी कों प्यावै है।
ताके पीवन सों ज्यादा बचिके रह्यो जो नाहिं,
स्वाद स्वाद पीवत अघाय हुलसावै है।
घीउ मिल्यो भात रँध्यो ताकी सुठि सोंधी सोंधी,
मंजुल महँक महँकत हिय भावै है।
बेर बेर बेर फल मिले साग की सुगन्धि,
धाइ धाइ सरसाइ सब ओर छावै है ॥१॥

सौ०—इन बुड्ढे डढ़ियलों के आने से आज का पढ़ना-लिखना तो हो चुका।

पह०—क्या कहना है मित्र, गुरुजनों के साथ तुम्हारा यह अपूर्व शिष्टाचार सराहनीय है।

सौ०—अरे भाण्डायन, इस अतिथि का क्या नाम है जो सब बूढ़े और बुढ़ियाओं में मुखिया-सा मालूम होता है।

भा०—धिक मूर्ख, क्या व्यर्थ हँसी उड़ाता है, जानता नहीं कि श्रृङ्गीऋषि के आश्रम से अरुन्धती के साथ, महाराज

दशरथ की रानी को लेकर महर्षि वशिष्ठ जी आये हैं, फिर वृथा इस प्रकार क्यों बकता है!

सौ०—हूं! तो वशिष्ठ आये हैं।

भा०—और नहीं तो क्या समझता था।

सौ०—मैंने तो समझा कि कोई व्याघ्र या भेड़िया है।

भा०—अरे जीभ सँभाल, यह क्या कहता है!

सौ०—अजी आते ही उसने एक बिचारी बछिया की भेंट ली।

भा०—वेद में समांस मधुपर्क देना लिखा है, इसको प्रमाण करने वाले बहुतेरे गृहस्थ लोग श्रोत्रिय अभ्यागत को गोवत्सरी या महोक्ष अथवा महाज भेंट करते हैं, धर्म-सूत्रकारों का भी यही मत है।

सौ०—तब तो मेरी ही बन पड़ी।

भा०—कैसे?

सौ०—क्योंकि जब राजा जनक आये तो बाल्मीकि जी ने दही और मधु ही का मधु-पर्क दिया, बछिया रहने दी।

भा०—प्रवृत्ति मार्गवालों के लिए ऋषियों का यह नियम है, महाराज जनक तो निवृत्ति मार्ग में हैं।

सौ०—सो किस प्रकार?

भा०—जब से उन्होंने सीता देवी का सापवाद परित्याग सुना है तभी से वाणप्रस्थाश्रम स्वीकार कर लिया है। चन्द्रदीप तपोवन में तप करते करते उनको तो कई वर्ष बीत गये।

सौ०—तो यहाँ कैसे आये हैं?

भा०—अपने पुराने मित्र बाल्मीकि जी के दर्शन करने।

सौ०—समधिन से उनकी भेट यहाँ हुई या नहीं ?

भा०—अभी हाल ही वशिष्ठ जी की आज्ञा से श्री अरुन्धती कौशिल्या रानी के पास यह कहने गयी हैं, कि उन्हें अपने आप जाकर विदेहराज से भेट करना चाहिए।

सौ०—जब तक ये बड़े-बूढ़े आपस में मिलें, तब तक हम भी क्यों न विद्यार्थियों के साथ खेलकूद कर आज की छुट्टी मनावें। [दोनों निकलते हुए]

भा०—देख, वह पुराने वेद पारंगत राजर्षि जनक यही हैं जो भगवान वाल्मीकि और वशिष्ठ जी से मिलकर यहाँ आश्रम के बाहर वृक्ष की जड़ पर बैठे हुए हैं।

छोंकर की सी तन बदन, जाके दिन अरु रैन।
सीय सोच की दौं लगी, सुलगत चैन परै न ॥ २ ॥

[जाते हैं]

॥ इति विष्कम्भक ॥

[जनक आते हैं]

ज०—सोचनु सुत की विषम बिपदा सदय मैं जिह काल।
हिय होत हा ! घायल बड़ो, बाढ़े बिथा बिकराल ॥
बीते दिना बहु तउ उलहि मम सोक क्रोध बिसाल।
चलि जीय पै जनु तीव्र आरो निरत सालत साल ॥ ३ ॥

हाय, यह दारुण दुःख मुझ से सहा नहीं जाता, इधर वृद्ध तो अवस्था और असह्य विपदा की विथा घेरे हुए, उधर पराक, सान्तपन आदि निरन्न निर्जल व्रत करने से गाँठ का रसूक्त-माँस भी खा गया, किसी काम का रहा नहीं,

इस पर भी यह शरीर नहीं छूटता ; आत्मघात करके भी छुटकारा कहाँ ? क्योंकि ऋषियों के कथनानुसार आत्मघाती को अन्धतामिस्रादि घोर नरक भोगने पड़ते हैं। बरसों हो गये फिर भी जैसे जैसे सोचता हूँ, मेरा दुःख घटने के बदले प्रतिक्षण और भी उग्र रूप धारण करता ही जाता है, इसके शान्त होने का लक्षण कोई भी तो नहीं दिखाई देता। हाय क्या करूँ, कहाँ जाऊँ हाय बेटी सीता जगन्माता वसुन्धरा के पवित्र गर्भ से तो जन्मी, किन्तु न जाने क्या ऐसा भाग्य में लिखा लाई जिसका यह परिणाम हुआ। हा इसी लाज के मारे मैं जी खोल कर रो भी नहीं सकता; हाय बेटी, हाय !!

छिनक रोवत पुनि हँसत बिनु हेतु, चमकावत भली।
कोमल कली ज्यों कुन्दकी कल कढ़त निज दसनावली।
तुतरात कहि कछु की कछू मंजुल मधुर बातैं घनी।
सिसु भाव के तुव कंजमुख की अजहुँ मो कहँ सुधि बनी॥४॥

भगवती अचला, मत्सम्भव ही तुम बड़ी कठोर हो।
जिह गंग, अग्नि, अरुन्धती, सहसह महातम जानहीं।
रघुबंस-गुरु-रवि आपु जासन निज प्रतिष्ठा मानहीं॥
अस वाक-विद्या सम जनी तुव देखते पावन भई।
निज ता सुता की विपति तोसों कहु सही कैसे गई॥५॥

[नेपथ्य में]

[इधर आइये भगवती और महारानी आप भी इधर आइये]

ज०—[देख कर] यह तो कंचुकी के पीछे भगवती अरुन्धती आती हैं।

[उठकर] फिर महारानी किसे कहा [अच्छी तरह देखकर] हा, क्या यह महाराज दशरथ की धर्मपत्नी प्यारी सखी कौशिल्या हैं ? अब इन्हें देख कर कौन विश्वास करेगा कि यह वही हैं।

कमला-सरिस कमनीय अति, दसरथ भवन में जो लसी।
पद 'सरिस' योजन नहिं उचित, साच्छात् श्री कमला बसी।
बिधि बाम बस अति बिपति लहि, यह हाय कौसिल्या वुही।
जिय-सोच की मारी लगे अब और की कछु और ही ॥६॥

यह और एक दूसरा कुदशा का फल है।

मोहित जिय दरसन रह्यो, नित उच्छव को भौन।
अति असह्य सोई लगे, मनहु जरे पै लौन ॥७॥

[अरुन्धती कौशिल्या तथा कंचुकी का प्रवेश]

अ०—मेरा तो यही कहना है कि आप स्वयं चलकर विदेह-राज से मिलें और यही तुम्हारे कुलगुरु की आज्ञा है, इसीलिए मुझे आपके पास भेजा है, फिर पद पद पर आपके आशंकित होने का क्या कारण है ?

कं०—देवी मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने को सँभाल कर भगवान वशिष्ठजी की आज्ञा का पालन करें।

कौ०—यह सोच कर कि मुझे अभी मिथिलाधिपति से भेंट करना है मेरे सब दुःख एक साथ उमड़े आते हैं, और शोकाकुल हृदय को सँभालना कठिन हो गया है।

अ०—इसमें क्या सन्देह है।

प्रिय-वियोग तरंग हिये उठैं।

दुख न जासु घटै छिन एक हू॥

स्वजन कों लखिकें उमड़े सदा।

सहस धारन सों द्रुत धायकें॥८॥

कौ०—हाय! प्यारी बहू की यह दशा हो गई, अब राजर्षि को अपना मुख कैसे दिखाऊँ?

अ०—निमि-कुल-कमल-दिनेस यह, तुम समधी मिथिलेस।

याज्ञवल्कि जिह हित दियो, विमल ब्रह्म उपदेस॥९॥

कौ०—यही महाराज के प्यारे मित्र तथा बहू जानकी के पिता राजर्षि जनक हैं, हाय मैं इनसे ऐसे अमंगल समय पर मिली जब कि उनमें से एक भी नहीं हैं।

ज०—[आगे बढ़ के] भगवती, अरुन्धती, मैं सीरध्वज विदेह आपको प्रणाम करता हूँ।

सप्तर्षि मधि जो मुकुटमनि, तप-तेज-निधि जिन सम नहीं,

सो गुरु वशिष्ठहु तुमनि सों, कृतकृत्य अपु कों मानहीं।

मंगलकरनि तिहुँ-लोक की, जगवन्दनी सद्गुनवती,

सुचि प्रात-श्री सम तोहि, सिर निज नाइ बन्दों भगवती॥१०॥

अ०—आपके हृदय में परम ज्योति-स्वरूप ब्रह्म का प्रकाश हो और रजोगुण से परे विशुद्ध सत्त्व-गुण रूप तेजोमय सूर्यदेव तुम्हें पवित्र करें।

ज०—आर्यगृष्टि, प्रजा के पालन करने वाले महाराज की माता तो कुशल से हैं।

कं०—[आप ही आप] आज तो सचमुच ही हम सबको लज्जित होना पड़ा, देखिए 'प्रजापालक' शब्द इन्होंने किस व्यंग के साथ कहा। [प्रगट] हे राजर्षि, सीता के परित्यागरूपी शोकोत्ताप से जलती हुई तथा रामचन्द्र मुखचन्द्र के वियोग से महा दुःखित महारानी को ऐसे क्रोध-संदिग्ध वचन-बाणों द्वारा व्यथित करना तुम्हें उचित नहीं है। यह दुर्भाग्य का ही कारण समझिए, जो रामचन्द्र जी से ऐसा अनर्थ बन पड़ा। क्या करें नगरवासी सीता की अग्नि-परीक्षा में अविश्वास रख, वे सिरपैर की बातें उड़ा कर महाराज की अपकीर्ति फैलाते थे।

ज०—अरे हमारी सन्तान को शुद्ध करने वाला अग्नि कौन होता है, हाय ! हाय !! इन निर्लज्ज बकवादियों का ऐसा कहना ! राम की नहीं किन्तु हमारी भी बड़ी अप्रतिष्ठा का कारण हुआ।

अ०—[साँस भरकर] निस्संदेह अग्नि का नाम लेना तो बेटी की निन्दा करना है, सीता ही कहना पर्याप्त है—अग्नि उसे क्या शुद्ध करेगा ! उसके समान पहले आप तो शुद्ध हो ले। हाय बेटी—

सिसु होहु अथवा सिष्य मेरी ओर इक जाको धरो।
किन्तु लखि तव सुद्धता अति प्रेम तोमें मो खरो।
बरु होउ नारी वा कुमारी पूज्य तू जग की अहै।
केवल गुनी को गुन पुजत नहिं रूप अरु नहिं बैस है ॥११॥

कौ०—हाय मेरा दुःख बढ़ता ही जाता है।

[बेसुध होकर गिर पड़ती है]

ज०—हाय हाय! यह क्या हुआ?

अ०—राजर्षि, हैं यह क्या!

नृप-अछत सिसुजन संग सुखमय उन दिननु की सुध धरी।
निरखत सनेही तुमहि, अब सो आइ कसकी यहि घरी।
ऐसी दसा लहि नुव सखी यह अति विमूढ़ लखात है।
जिय कमल-कोमल कुल-तियन को नैक में कुम्हिलात है॥१२॥

ज०—अरे हाय, मैं ऐसा अभागा जन्मा हूँ, कि इतने दिन पीछे मिलने पर भी अपने प्यारे मित्र की रानी को प्रेम-पूर्वक नहीं देख सकता।

प्रिय, अभिन्न-उर पूज्य, सुहृद, समधी, हितकारी।
तनधारी-आनन्द अखिल-जीवन-फल-भारी।
यह तन अथवा जीव अधिक इनसों वा प्रियतम।
रहे न, का महाराज अटल प्रन श्रीदसरथ मम॥१३॥

हाय हाय! यही वह कौशिल्या है—

यदि भई अनवन कबहुँ इनकी कान्त सों एकान्त में।
निज निज अपार उराहनो दम्पति दियो मोहि तिह समें।
नित प्यार में वा कोप में मध्यस्थ दोउन को रह्यो।
बस तासु सुधि दाहति हृदय अब जात नहिं यह दुख सह्यो॥१४॥

अ०—हाय, बहुत देर से इनकी साँस नहीं चलती और हृदय धड़कना भी बन्द हो गया है।

ज०—हाय प्यारी सखी !

[कमण्डल से हाथ में जल लेकर छिड़कते हैं]

सुहृद तुल्य दिखाय दयामयी,
प्रथम पूर्ण सदा अनुकूलता ।
बनि महा पुनि दारुन क्यों बिधे,
अब करै मन में अति वेदना ॥१२॥

कौ०—[चेत में आकर] हाय बेटी जानकी तू कहाँ है ! विवाह-संस्कार की उमंग से रमणीय निर्मल-मधुर मुसक्यान भरे, तेरे मनोहर भोले-भाले प्रफुल्लित मुख-कमल का अभी तक मुझे स्मरण बना हुआ है; आ बेटी, विलसित चन्द्र-चन्द्रिका के समान, अपने कोमल-कमनीय शीतल-शरीर से छटा-छिटकाती हुई मेरी गोदी की शोभा बढ़ा ! महाराज सदा यही कहा करते थे कि यह जानकी परम-पूज्य रघुवंशियों की वधू है किन्तु हमारी तो फिर भी जनक के सम्बन्ध से बेटी ही लगती है ।

क०—ऐसा ही था महारानी, ठीक है ।

सो है महीप सुत चार सुरूप बारे ।
श्री राम किन्तु सब सोंहि विशेष प्यारे ॥
त्योंही बधूनि मधि श्री मिथलाकुमारी ।
शान्ता सुता सम रही नृप की दुलारी ॥१६॥

ज०—हाय प्यारे सुहृद दशरथ महाराज, तुम ऐसे ही थे तुमको कोई कैसे भूल सकता है !

पूजत कन्या पच्छ के, बर पच्छहिं यह रीति ।
किन्तु रह्यो मैं पूज्य तुव, नाते सों विपरीति ॥

अस तुम और सिय नेह की, मूलहु गई नसाय।
धिक धिक अब यहि जीवनहिं, नरक सरिस दुखदाय ॥१७॥

कौ०—बेटी जानकी, क्या करूँ मेरे पापी प्रान भी किसी ने वज्र-कील से जड़ दिये हैं जो शरीर से नहीं निकलते।

अ०—राजकुमारी, धीरज धरो अब तुम्हें अपने अश्रुप्रवाह को रोकना चाहिए; क्या तुम्हें स्मरण नहीं है जो तुम्हारे कुलगुरु ने श्रृंगीऋपि के आश्रम में कहा था कि यह तो सब होनहार था सो हुआ, किन्तु फिर भी अन्त में कल्याण ही होगा।

कौ०—भगवती अब तो ऐसी आशा नहीं है !

अ०—तो क्या आप उन कुलगुरु के वाक्यों को मिथ्या समझती हैं, आप जैसी क्षत्राणी को ऐसा नहीं समझना चाहिए; उनका कथन कभी अन्यथा हो नहीं सकता।

ब्रह्म-ज्योति को तत्व जिन, प्रगट कियो अभिराम।
तिन बिप्रन के बचन में, नहिं संसय को काम ॥
श्री जिन बानी माहिं, बसति सदा मंगल करनि।
निहचै करि सो नाहिं, मृषा-सबद एकहु कहत ॥१८॥

[नेपथ्य में कोलाहल होता है]

[सब कान लगाकर सुनते हैं]

ज०—आज बालकों की छुट्टी है, इसी से सब के सब ऊधम मचाकर खेल रहे हैं, उन्हीं का यह कोलाहल है।

कौ०—लड़कपन का आनन्द तो लड़कपन में ही है [देखकर] अरे, इन बालकों में रामचन्द्र-सा मनोहर कान्तिवान यह

और किसका बालक है जो अपने मृदुल मुग्ध अंगों से हमारी आँखें शीतल कर रहा है।

अ०—[आनन्दाश्रु भरकर अलग आप ही आप] यही भगवती भागीरथी द्वारा कथित कर्णामृत गुप्त रहस्य है, किन्तु यह नहीं जानती कि उन दोनों चिरंजीवों में से यह कुश है या लव।

नव नील सरोरुह सौं तन स्यामल चारु सरोरुह की छबि भावै।
बटु वृन्द कौं जो अपनी श्रिय सौं प्रिय पुण्य सिरी श्रियवान बनावै॥
सिसुरूप सौं मो पुनि वत्स अनूप लगे रघुनन्दन ही जनु आवै।
जिह को है जो केवल देखन सौं चख अमृत-अञ्जन सुभ्र लगावै॥१६॥

कं०—मुझे तो यह लगता है कि यह बालक क्षत्रिय ब्रह्मचारी है।

ज०—ठीक, क्योंकि—

दोऊ बगलनि ओर पीठ पै निषङ्ग राजे,
तिनके बिसिख सिखा चुम्बति सुहावै है।
अलर बिभूति उर पाहन रमायें मंजु,
धारें रुरु मृगछाला छटा छिति छावै है।
मौरवी लता की बनी कौंधनी कलित कटि,
कोपीन मजीठ रङ्ग रँगी सरसावै है।
कर में धनुष, तथा पीपर को दण्ड चारु,
आछी रुद्राछी माला मोद उपजावै है॥२०॥

भगवती अरुन्धती आप जानती हैं यह किसका बालक है?

अ०—आज ही हम लोग भी आये हैं।

ज०—आर्यगृष्टि, मुझे बड़ा कौतुक हो रहा है, जाकर भगवान वाल्मीकि जी से ही पूछिये और इस बालक से भी कहते जाइये कि ये कोई बड़े-बूढ़े तुम्हारे देखने के लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं।

कं०—जो आज्ञा।

[बाहर गया]

कौ०—क्या ऐसा कहने से वह आजायगा?

अ०—भला ऐसा सुन्दर स्वरूप है तो उसमें शील न होगा।

कौ०—[देखकर] देखो तो सही कैसे विनीतभाव से कंचुकी की बातें सुन वह बालक ऋषिकुमारों का साथ छोड़ कर इधर ही को आ रहा है।

ज०—[बहुत देर तक टकटकी लगाकर] देखो जी यह क्या बात है—

बिनै सिसुता सों सुहावन चारु लसै यहि में अति तेज निकाई।
लखैं जिह सूच्छम देखनहार परै न अजानहिं रञ्च लखाई॥
बिमोह हरैं मन मो बलवान रहै तप सों जिय में थिरताई।
यथा लघु चुम्बक खंड स्व-ओर कुधातुहिं खेंचतु है बरिआई॥२१॥

[लव आता है]

ल०—माना, कि यह सब बड़े हैं और परम माननीय हैं, तथापि जिनके नाम, कुल और वर्ण का मुझे पता नहीं उन्हें पहले ही पहले अपनी ओर से किस प्रकार प्रणाम करूँगा। [विचारकर] किन्तु गुरुजनों के मुख से सुना है कि ऐसा करने में कोई बुराई भी नहीं है [सनम्र आगे बढ़कर] आप सबको लव प्रणाम करता है।

अ० और ज०—हे कल्याणरूप, तुम्हारी बड़ी आरबल हो।

कौ०—बेटा चिरंजीव रहो।

अ०—आ बेटा, [लव को गोद में लेकर आप ही आप] बड़े भाग से न केवल गोद ही भरी, किन्तु बहुत दिनों का मेरा मनोरथ भी पूर्ण हुआ।

कौ०—बेटा इधर भी आ [गोद में लेकर] अहा, यह बालक न केवल खिलते हुए नीलोत्पल से घनश्याम वरण संगठित सुन्दर शरीर में, तथा कमलों की केशर खाये हुए ललित-कण्ठ वाले मनहरण हंसों-के-से ललाम मृदु-गम्भीर धीरस्वर में प्यारे रामचन्द्र की अनुहार करता है; किन्तु पूर्ण प्रफुल्लित पद्म-गर्भगत दलों के तुल्य, इसका शरीर संस्पर्श भी वैसा ही मृदुल है। चिरजियो बेटा, अपना मुख-चन्द्र तो दिखला, कैसा है! [ठोड़ी ऊपर को उठाकर भली भाँति निहार तथा प्रेमाश्रु भरकर] राजर्षि, क्या आप नहीं देखते कि अच्छी तरह निहारने से इसका मुख बेटी बधू जानकी के चन्द्रानन से मिलता है!

ज०—देखता हूँ सखी, मुझे भी वैसा ही लगता है।

कौ०—आश्चर्य है न जाने क्यों मेरा हृदय उन्मत्त-सा हो गया है और सीता-के-से इस अनिर्वचनीय मनोहर मुख ने मुझ पर कुछ मोहनी-सी डाल दी है।

ज०—सिया रघुनन्दन की उनहारि, गयौ यह बाल महासुखदाय।
मनो प्रतिबिम्बित है यहि माहिं, रही उनकी दुति आकृति छाय।
मिलै उन सों यहि को सब भाँति, बिनै मय बोल सुशील सुभाय।
वृथा चित चंचल क्यों मम दैव, कुमारग में भटक्यो इत आय॥२२॥

कौ०—बेटा, तेरी मा भी है? तुझे अपने पिता की भी सुधि है?

ल०—नहीं तो।

कौ०—तो तू किसका पुत्र है?

ल०—भगवान् वाल्मीकिजी का।

कौ०—बेटा कहने की सी बात कहो!

ल०—मैं तो यही जानता हूँ।

[नेपथ्य में]

[देखो सैनिको, कुमार चन्द्रकेतु की आज्ञा है कि तपोवनाश्रम के समीप की भूमि पर कोई पाँव न रक्खे।]

अ० और ज०—यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए कुमार चन्द्रकेतु भी यहाँ आ पहुँचा है, इसलिए आज उसे भी देख सकेंगे, अहा! बड़ा धन्य दिन है!!

कौ०—वत्स लक्ष्मण का पुत्र "आज्ञा देता है" ये अक्षर अमृत-बिन्दु तुल्य कैसे सुन्दर तथा कानों को सुख देने वाले हैं।

ल०—आर्य, ये चन्द्रकेतु कौन हैं?

ज०—तुम राजा दशरथ के पुत्र राम लक्ष्मण को जानते हो?

ल०—वे ही जिनकी कथा रामायण में कही है, भला उन्हें कैसे नहीं जानता!

ज०—तो उन्हीं लक्ष्मणजी का पुत्र चन्द्रकेतु है।

ल०—अच्छा तो वे उर्मिला के पुत्र तथा राजर्षि मिथिलाधिपति के धेवते हैं।

अ०—(हँसकर) इससे यह प्रकट हुआ कि कुमार रामायण जानने में बड़ा प्रवीण है।

ज०—(विचार कर) जो तुम कथा जानने में बड़े प्रवीण हो तो बतलाओ कि दशरथात्मजों के पुत्रों का क्या नाम है। और कौन कौन किस मा से उत्पन्न हुआ।

ल०—कथा का यह भाग हमने क्या, किसी ने भी अब तक नहीं सुना।

ज०—क्या कवि ने उसकी रचना नहीं की ?

ल०—रच तो लिया किन्तु प्रकाशित नहीं हुआ। उसी का एक भाग, दृश्य-काव्य के रूप में खेलने के लिए तैयार हो गया है। अब उसे अपने हाथ से लिखकर वाल्मीकिजी ने नाटकाचार्य भगवान भरतमुनि के पास भेजा है।

ज०—सो किस प्रयोजन से ?

ल०—जिससे भगवान भरतमुनि अप्सराओं द्वारा उसका अभिनय करावें।

ज०—यह तो बड़े आश्चर्य की बात है !

ल०—अजी महाराज वाल्मीकिजी को उसमें इतनी अधिक प्रीति है कि उसे कितने ही शिष्यों द्वारा भरताश्रम पर भेजा है। और फिर भी कहीं रास्ते में गड़बड़ी न हो जाय इस भय से, धनुषबान बँधाकर हमारे भाई को साथ कर दिया है।

कौ०—तुम्हारे भाई भी हैं ?

ल०—हाँ, उनका नाम "आर्य कुश" है।

कौ०—क्या तुमसे जेठे हैं ?

ल०—हाँ, उनका जन्म कुछ पहले हुआ था।

कौ०—तो क्या बेटा तुम दोनों ने एक साथ ही जन्म लिया था ?

ल०—हाँ जी।

ज०—अच्छा तो कथा कहाँ तक बन गई है ?

ल०—लोगों के मिथ्या कलंक लगाने के भय से घबड़ाकर, राजा ने यज्ञात्मजा भगवती सीता को वनवास दे दिया और शीघ्र होने वाले प्रसव की वेदना से व्याकुल उस बिचारी को वन में अकेली छोड़ लक्ष्मण फिर लौट गये, बस यहीं तक समझिये।

कौ०—हाय बेटी भोली-भाली चन्द्रमुखी, उस समय निर्जन वन में दैवकोप से तेरे कुसुम सदृश सुकुमार शरीर की क्या दशा हुई होगी !

ज०—हाय बेटी,

नव दारुन वा अपमान सों तू, निहचै दृग नीरहिं ढारति होइगी।
सिसु होन समै पै सिये बन में, कहुँ बेहद पीड़ा सों आरति होइगी।
घिरि आइ अचानक सिंहनि सों, किमि बेबस धीरज धारति होइगी।
करिके सुधि मेरी डरी हिय में, कहुँ तात ही तात पुकारत होइगी॥

ल०—(अरुन्धती से) अजी ये कौन हैं ?

अ०—ये कौशिल्या हैं, और ये राजा जनक हैं।

ल०—(बड़े आदर, खेद तथा कौतुक से देखता है)

ज०—हाय, दुष्ट पुरवासियों ने तो अपनी मर्यादा छोड़ दी,

और राम ने भी कुछ विचार न करके शीघ्रता कर डाली, यह आश्चर्य है।

निरत वज्र सम घोर यह, प्रिय-संग अनरथ-पात।
आलोचत, मम अति प्रबल, क्रोधानल बढ़ि जात॥
समर माहिं कर चाप गहि, अथवा दै निज स्राप।
अन्याई कों हनि अबहिं, उचित हरन सन्ताप॥२४॥

कौ०—हाय भगवती अरुधन्ती, राजर्षि के कोप को शान्त कर के राम की किसी प्रकार रक्षा कीजिये।

अ०—यहि भाँति निकारत कोप सही,
अपमानित मानधनो सबही॥
सुत राम तिहारो छिमा करिये,
नृप छोभ सबै जिय से हरिये॥
यह दीन अधीन प्रजा सबरी।
प्रतिपालन जोग अबोध भरी॥२५॥

ज०—प्रजा माहिं लखियत घने, निरपराध द्विजपाल।
अबला-गन जन-जरठ अरु, अंग-भंग बेहाल॥
सो जीवन-धन प्रिय-सुअन, रघुनन्दन का और।
चाप स्राप को काम कछु, अब नहिं काहू ठौर॥२६॥

(कौतुक भरे दौड़ते हुए बालकों का प्रवेश)

लड़०—अजी "अश्व अश्व" करके जिस पशु को नगरों में पुकारते हैं सो हमने आज अपनी आँखों से देखा।

ल०—अश्व का वर्णन तो पशु-शास्त्र तथा युद्ध-शास्त्र दोनों ही में किया है, कहो तो कैसा है?

लड़०—सुनिये:—

पाछें पूँछ होति इक लाँबी, पुनि पुनि ताहि हिलावै।
चारि सुग्म अत्यन्त रुचिर, जिह दीरघ ग्रीव सुहावै॥
नित नूतन तृन हरित चरत, जो चपल चारु चित भावै।
दूर जात, का कहहिं, संग चलि क्यों न लखहु बुह जावै॥२७॥

(ऐसा कह लव के दोनों हाथ तथा मृगछाला पकड़ कर खींचते हैं)

ल०—(कौतुक और विनय-पूर्वक परवम भाव दिखाकर) हे महानुभाव, देखिये देखिये ये मुझे खींचे लिये जाते हैं।

(जल्दी फिरता है)

अ० और ज०—जाओ बेटा अपना कौतुक शान्त कर आओ।

कौ०—भगवती, बिना इसके देखे मुझ से रहा नहीं जाता, इस लिए आओ और कहीं से इसको देखें।

अ०—अरे वह चपल तो बड़ी दूर निकल गया, कैसे दीख पड़ेगा।

(कंचुकी आता है)

कं०—महाराज वाल्मीकि ने कहा है कि, अवसर पड़ने पर इस बालक के बारे में आपको बतलाया जायगा।

ज०—कुछ गूढ़ बात इसमें होगी, भगवती अरुन्धती, सखी कौशिल्या और आर्यगृष्टी चलिए सब के सब स्वयं भगवान वाल्मीकिजी से भेंट करें।

[सब जाते हैं]

लड़०—कुमार, देखो यही वह कौतुक है।

ल०—देखा और जान भी लिया कि अश्वमेध का घोड़ा है।

लड़०—कैसे जाना ?

ल०—तुम भी बड़े मूर्ख हो, तुमने उस काण्ड में पढ़ा तो है, देखते नहीं सैकड़ों रक्षक सिपाही हथियार बाँधे कवच पहने, धनुष लिये इसके साथ हैं—यह तो अधिकतर सेना ही दिखाई पड़ती है, इस पर भी तुम्हें विश्वास न हो तो जाकर पूछ लो।

लड़०—तो क्यों भाई, ये सब के सब किस प्रयोजन से घोड़े को घेर फिरते हैं!

ल०—[स्पृहा के साथ आप ही आप] जान लिया, ठीक, अश्वमेध तो विश्वविजयी नृपरत्न के अतुलित महत्व तथा जगत् के अन्य क्षत्रियों के पराभव की कसौटी है!

[नेपथ्य में]

दलकन्धर-कुल अटल रिपु, धर्म धुरन्धर धीर।
सात द्वीप नव खंड में, एक वीर रघुवीर॥
ताही को यह मख-तुरँग, झंडा सुभग अपार।
अथवा इनके रूप में, क्षत्रिनु को ललकार॥२८॥

ल०—[व्यथा प्रगट करके] अरे इन लोगों के वाक्य कैसे क्रोधानल बढ़ाने वाले हैं।

लड़०—क्या कहा गया, कुमार तुम तो चतुर हो सब समझ गये होगे?

ल०—अरे क्या सारा संसार क्षत्रिय-शून्य हो गया जो तुम इस प्रकार दून की हाँक रहे हो।

[नेपथ्य में]

[अरे, महाराज रामचन्द्र के सामने कौन क्षत्री है]

ल०—अरे पामरो, तुम सबको धिक्कार है !

यदि बड़े वह वीर, रह्यो करैं।
यह कहा अरु ढोंग भयावनो ॥
कछु न लाभ वृथा बकवाद सों।
सबनु मारि हनौं तुम्हारी भुजा ॥२६॥

अरे लड़को ! ढेले मार मार कर इस घोड़े को इधर फेर दो, जिससे यह बिचारा हिरनों में चरता फिरे और उधर न जाने पावे।

[एक सैनिक का प्रवेश]

सै०—(क्रोध और गर्व से) अरे क्यों रे चंचल क्या बक बक कर रहा है। निष्ठुर निर्मोही शस्त्रधारियों का दल बच्चों की भी सगर्व बातें नहीं सहता। जा, जब तक अरि-मर्दन राजकुमार चन्द्रकेतु पूर्वीय वनों का मनोरम दृश्य देख कर न लौट आवें, तब तक इन गहन वृक्षों की आड़ में होके भागजा ! अरे जा !!

लड़०—कुमार, इस घोड़े को रहने दो वह देखो शस्त्र चमकाते हुए सैनिकों का दल तुम्हें धमका रहा है और यहाँ से आश्रम बहुत दूर है, इसलिए चलो रे सब के सब हिरन-की-सी छलाँगें भरते हुए भाग चलें।

ल०—[हँसकर] क्या सचमुच शस्त्र चमका रहे हैं [धनुष उठाकर] अच्छा तो फिर—

प्रबल प्रतिंचा जीह लहराति चंचला-सी,
उतकट कोटि बिकराल दाढ़ जाकी है।
घोर घन घररर घोर जो टकोरन की,
गजबीली अट्टहाँसी रन-रंग छाकी है।
बिकट उदर धारो, खैंचत तनत सोई,
मानौ जमुहाई लेन परचंड ताकी है।
विश्वहिं ग्रसन काज उद्यत ये चाप मम,
धारे आज जम की सदाप छवि बाँकी है ॥२०॥

[यथोचित धूमधाम कर सब जाते हैं]

अङ्क ५

[नेपथ्य में]

[सैनिको घबड़ाओ मत, घबड़ाओ मत]

लुह अवलि ही दीसत यहाँ सों शुभ्र रथ छविवन्त।
लावत भजावत हयनि हाँकत बुद्धिमन्त सुमन्त॥
अति लाय मग हदका पताका फरफराति अपार।
सुत संग रन सुनि तुरत आवत चन्द्रकेतु कुमार॥१॥

[रथ पर चढ़े हुए धनुषबान हाथ में लिए आश्चर्य और हर्षयुक्त चन्द्रकेतु का सुमन्त के साथ प्रवेश]

चं०—आर्य सुमन्त देखो, देखो—

किञ्चित कोप के कारण सों जिह, आनन ओप अनूपम सोहै।
गुञ्जित सिञ्जनि को धनु ले जुग छोरनि मंजु टकोरत जो है॥
चंचल पंच-शिखानि किये बरसावत सेन पै बान बिमोहै।
चूह रह्यो रन-रंग महा यह बालक बीर बताबहु को है॥२॥

अहा कैसा आश्चर्य है—

अकेलो ही मुनि को यह बाल तऊ भयभीत न रंच लखावै।
मनो कुलहा रघुबंस को चारु दुरयो जिय नेहलता उलहावै॥
दलै गज गंडथलीनि की ग्रन्थि जबै धनु घोर टकोर मचावै।
घिरयो बहु बीरन सों चहुँ तीर चलावत मो उर कौतुक छावै॥३॥

सु०—आयुष्मन्—

विमल छबियुत सुर असुर सन विपुल बीर जवान।
निरखि यह सिसु सबल बिधिसों ठीक तोहि समान॥
मोहि सुधि आवत परम रत-धनु सघन घनश्याम।
कुशिक-सुत-मख-रिपुन प्रमथत सुभगतनु श्रीराम॥४॥

चं०—जरत खन अति चंचलित जिन अँगुली उत्ताल।
समर खड्ग कराल गहि अस कुपित सैन बिसाल॥
कनक-किंकिन झनझनावत टिनिन-टिन रथजाल।
मिरत मदजल चुअत श्यामल द्विरद बारिद माल॥
जे घटा दल सबल घेरत एक बालहिं आज।
होत नीचे नैन मम लखि लाज को यह काज॥५॥

सु०—वत्स, जब सब मिल कर इसका बाल बाँका नहीं कर सकते तो फिर एक एक से क्या होता है?

चं०—आर्य, शीघ्रता करो! इसने चारों ओर हमारे आश्रित-जनों का संहार करना आरम्भ कर दिया।

दुंदभी की घोरसम रोदा टनकार जाकी,
बढ़ि बढ़ि रव सब दिसिन कँपाएँ देत।
कुंजरनि-पुंज जो गरजि गिरि-कुंजनि कों—
गुंजत, तिनहुँ कान जुर उपजायें देत॥
भाजत भयानक बिपुल मुंड रुंडनि कों,
काटि यह बीर महीतल पै बिछायें देत।

लागे जनु काल विकराल पून अघात्य,
खाय खाय भूटिन चहूँधा विथुरायें देत ॥६॥

सु०—[अपनेआप] ऐसे पराक्रमी के साथ चन्द्रकेतु को द्वन्द्व-युद्ध करने की किस प्रकार अनुमति दूँ [विचार कर] और रघुवंशी राजाओं में रहते रहते हम बूढ़े हो गये, इस रणभूमि से पीठ दिखलाना रघुवंशियों का धर्म नहीं, इसलिए रण उपस्थित होने पर सिवाय लड़ने के और क्या उपाय है !

चं०—[विषमय लज्जा और खेद से] धिकार है कि हमारी सेना के लोग भागने लगे !

सु०—[रथ का वेग दिखाकर] आयुष्मन्, वह वीर अब आपके समीप आगया !

चं०—[विस्मृति जनाता हुआ] आर्य, दूतों ने इसका नाम क्या बतलाया है ?

सु०—लव ।

चं०—तुच्छ सिपाहनु विजय करि, यस न बढ़े लव तोर ।
हौंस बुझावहु जीय की, मोसँग लरि इत ओर ॥७॥

सु०—कुमार देखिये, देखिये—

सुनत ही तुव टेर, दल को दलन तजि रनधीर ।
मुरत इत, रन-मद भर्यो यह लसत बालक बीर ॥
सघन घन को गरजना सुनि, सिंह को जिमि बाल ।
फिरत सदरप ध्वनि सों, तजि कुञ्जरनि ततकाल ॥८॥

(नेपथ्य में महा कोलाहल)

(शीघ्र और उद्धत चाल से लव का प्रवेश)

ल०—वाह राजपुत्र वाह, क्यों न हो, आखिर तो सच्चे इक्ष्वाकु-वंशी राजपूत हो न! लो आओ मैं तुम्हारे सामने आया।

(नेपथ्य में फिर कोलाहल)

ल०—(शीघ्र लौट कर) अरे क्या फिर भी ये हारे हुए योद्धा साहस करके युद्ध के लिए लौट आये हैं और मुझ पर प्रहार करना चाहते हैं, धिक निर्लज्जो !

यह जो उठत सब ओर सों दल-प्रबल कल-कल घोर।
बस, लील लेहि अबैहि तिमि मम चण्ड कोप अथोर॥
जिमि प्रलय आँधी सों विचंचल जलधिजल बल भूरि।
गिरि दांत सन अति क्षुभित बड़वानल हरै चहुँ पूरि॥९॥

(इधर-उधर घूमता है)

चं०—हे कुमार,

निज अलौकिक सौर्य सों तू लगत प्रिय मन माहिं।
मम मित्र तिहि कारन भयो, मोहि तोहि अन्तर नाहिं॥
हे वीर, निज ही सैन कों तू हनत फिरि किहि हेतु।
जब दरप-नासन-तुव, कसौटी अहहि चन्द्रकेतु॥१०॥

ल०—(सहर्ष शीघ्र लौट कर) अहा ! इस सूर्यवंशी महा पराक्रमी वीर की वाणी मधुर और कटु दोनों ही प्रकार की है, इस कारण इन्हें छोड़ कर इसे ही देखना चाहिए।

(नेपथ्य में फिर कोलाहल)

ल०—(क्रोध और तिरस्कार पूर्वक) अरे इन पापियों के कोलाहल से तो नाक में दम होगया, यहाँ तक कि इस वीर के साथ बातें भी करते नहीं बनता।

(लौटता है)

चं०—(सुमन्त से) आर्य देखिये देखिये, देखने योग्य है—

कौतुक जनक यह दरप सों महि लच्छ करि जा ओर।
आवत लसत मम सैन अनुसृत हाथ लै धनु घोर॥
दोउ ओर सों जनु लहि झकोरत पवन के घनश्याम।
सुठि पाक-सासन कौ सरासन धारि सोभा धाम॥११॥

सु०—कुमार ही इसे देख सकते हैं हम तो विस्मय के मारे यह भी नहीं कर सकते!

चं०—हे राजा लोगो—

कहँ तुम सब गज हय रथासीन।
कहँ यह पदाति साधन विहीन॥
कहँ कवचयुक्त तुव तन कराल।
कहँ यहि तन कोमल मिरग-छाल।
कहँ वयोवृद्ध तुम जन अनेक।
कहँ निस्सहाय यह बाल एक॥
तउ करत याहि पै तुम प्रहार।
धिक्कार सबनि कौं बार बार॥१२॥

ल०—(दुःख के साथ) क्या यह मुझ पर दया दिखलाता है ?
(सोचकर) अच्छा पहले तो जृम्भकास्त्र से सेना को
मोहित करदूँ जिससे समय नष्ट न हो।

(ध्यान करता है)

सु०—अरे यह क्या ! अचानक ही हमारी सेना का कोलाहल
बन्द हो गया !

ल०—अब मैं इस अभिमानी को देखूँगा।

सु०—वत्स मेरी समझ में तो इसने जृम्भकास्त्र का प्रयोग
किया है।

चं०—इसमें क्या सन्देह है—

मनौ प्रचण्ड अन्धकार बिज्जु सन्निपात है।
लखैं जबैंहि चच्छु चौंधियात ना दिखात है॥
लिखी सुचित्रसी ठढ़ी समस्त सैन ह्वै रही।
अमोघ घोर जृम्भकास्त्र है यही अवश्य ही॥१३॥

देखो देखो कैसे आश्चर्य की बात है—

सघन रसातल-गरभगत कुञ्जनि में,
पुञ्जित-तिमिर श्याम कारे कजरारे हैं।
पीतर-तपत को सो पिङ्गल प्रकाश करि,
भरैं अब जृम्भक अकास में सरारे हैं॥
यथा प्रलै-प्रबल प्रचण्ड पौन उच्छलित,
विन्ध्याचल-कूट-कन्दरानि में करारे हैं।

धावत कपिलरङ्ग विद्युत सँवारे घने,
धाराधर मानहु मतङ्ग मतवारे हैं ॥१७॥

सु०—भला इनके पास जृम्भकास्त्र कहाँ से आये ?

चं०—मेरी समझ में तो भगवान वाल्मीकिजी ने दिये होंगे।

सु०—वत्स, भगवान वाल्मीकिजी को अस्त्रों के विषय से क्या प्रयोजन ? और विशेषकर जृम्भकास्त्रों से, क्योंकि—

यह सर्वे उत्पन्न कृशाश्व सों,
प्रथम कौसिक कों उनसों मिले।
तिन विचारि स्वसिष्य परम्परा,
पुनि दिये गुरु, सेवक राम कों ॥१८॥

चं०—तब भी क्या हुआ जिन लोगों में सत्वगुण का विशेष आविर्भाव हो गया है, वे आपही समन्त्र जृम्भकास्त्र के देने में समर्थ होते हैं।

सु०—वत्स, सावधान हो जाओ वह वीर पास आ पहुँचा।

दोनों कु०—[परस्पर आप ही आप] यह कुमार तो बड़ा सुन्दर है

[स्नेह से देखकर]

लहि औचक जासु समागम को, लखि कै यहि वीरपनों अधिकाई।
भयो कोउ उदै ये पुरानों किधों परबै जन्मान्तर को दृढ़ आई—
अपनो अथवा अपने कुलको, विधि के बससों यह जानि न जाई।
परि या छिन याहि लखें उमगे प्रिय भ्रात-सनेह हिये सुखदाई !

सु०—बहुधा जीवधारियों का धर्म ही यह है, जिसके कारण

एक दूसरे से रसमयी प्रीति हो जाती है. इसी को लोग गृह-मैत्री वा आँख का लगना कहते हैं और इसे ही अनिर्वचनीय निस्स्वार्थ प्रेम के नाम से पुकारते हैं।

सहज नेह रस-धाम, जापै बस कोउ ना चलत।
नित बलिया को काम, जुग अन्तस् पटपै करै ॥१७॥

दोनों कु०—[एक दूसरे से आप ही आप]

चीकनो चारु पटम्बर सौ, अति कोमल मंजुल जासु शरीर है।
छौंड़त कैसे बनै यहि पै, मम तीखो कराल बिनासक तीर है।
देखत ही जिह भेटनकों, अकुलाय बड़ो मन होतु अधीर है।
गात सबै पुलकात ह्वै, भरै नैननु माहिं सनेह को नीर है ॥१८॥

अथवा—

नति सस्त्र चलाये बिना कहा और है सूरसों, जो रनमत्त अपार है।
पुनि सस्त्रहिं धारिकें काह भयो, जो कियो भट ऐसेहुपै नहिं वार है।
रन सों मुखमोरिबु को गिनि है, लखिमोहि उठावत अस्त्र अगार है।
हिय प्रेम, तऊ बिपरीति चलै अति दारुन बीरन को व्यवहार है ॥१९॥]

सु०—[सब को देख आँसू भर के आप ही आप]

मृदु मनोरथ की प्रिय-मूल जो,
प्रथम ही हरि ने हरिही लई।
लुनि चुके जब कोमल बल्लरी,
तब सु-बास प्रसूननि की कहाँ ॥२०॥

चं०—आर्य सुमन्त, मैं रथ से उतरता हूँ।

सु०—किसलिए, वत्स ?

चं०—जिससे इस वीर का आदर और क्षत्रिय धर्म का यथावत् पालन हो क्योंकि युद्धशास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार रथी को पदाति के साथ लड़ना कहाँ उचित लिखा है ?

सु०—(आप ही आप) हाय मैं तो धर्म-संकट में पड़ा,

कहहु का विधि नय मरजाद को,
करहुँ याहि अर्थ प्रतिषेध मैं।
रथ बिना लरिबे हित शत्रुसों,
किमि भला अनुमोदन ही करों ॥२१॥

चं०—जब हमारे पिता, पितामह आदि धर्म-विषयक शंकाओं में आपसे परामर्श लेते आये हैं, तो अब इतनी चिन्ता में पड़ने का क्या कारण है ?

सु०—आयुष्मन् तुमने ठीक विचार किया है—

समर न्याय यही सब भाँतिसों,
यहि अमोल सनातनधर्म है।
बस यही रघुसिंहन की रही,
सतत वीरचरित्रमयी प्रथा ॥२२॥

चं०—आर्य आपने ठीक कहा—

तुव पढ़े इतिहास पुरान हैं,
सदुपदेश ललाम सुनीति के।

बिसद जानि सकौ बस आपुही,
सु-मरजाद सबै रघुबंस की ॥२३॥

सु०—(आँखों में आँसू भर और गले लगा कर)

तुव तात लछिमन ने कियो जो इन्द्रजीत निपात।
सो सब लगै मोहि जा घरी जनु कालि-की-सी बात ॥
अब तिनहुँ के तुम पुत्र, धारत बीरता-ब्रत-साज।
धनिधन्य दसरथ-कुल-प्रतिष्ठा बिमल छाई आज ॥२४॥

चं०—(कष्ट के साथ)

कहा प्रतिष्ठा होइगी, मो कुल की मतिवान।
कुल जेठे ही के नहीं, जब कोऊ सन्तान ॥
याही दुःखसों अति दुरे, चिन्तातुर छयि-छीन।
मो पितु युग बन्धुनि सहित, निसिदिन रहत मलीन ॥२५॥

सु०—हाय, चन्द्रकेतु की ये बातें सुनने से हृदय विदीर्ण हुआ जाता है!

चं०—(आप ही आप) अहा, अन्तःकरण में मिश्रित रस का संचार हो रहा है:—

जिमि करत प्रफुल्लित कुमुदिनी कों उदित पूरन चंद।
तिमि भरत, हिय में दरस जाको अति अमल आनंद ॥

किन्तुः—

झन झनन झनझन करन कटु गुनगुञ्ज-मय धनु जोइ ।
गहि ताहि, यह भुज, वीररस भरि समर-प्रिय पुनि होइ ॥२६॥

चं०—(रथ से उतर कर) आर्य, सूर्यवंशी चन्द्रकेतु आपको प्रणाम करता है !

सु०—अतुलित अजित अपार ओजमय, पावन भारो ।
नृप ककुत्थ के तुल्य होउ प्रिय तेज तिहारो ॥
नित्य विष्णु बाराह देव सब विघन नसावैं ।
सुन्दर करि कल्यान मोद हिय में सरसावैं ॥२७॥

और भी—

तुव कुल-पिता सविता समर में तोहि आनन्दित करैं ।
रघुबंस-पूज्य वशिष्ठ मुनि हूँ नित्य तुव हिय सुख भरैं ॥
अरु इन्द्र इन्द्रावरज पावक पवन पन्नग-रिपु, भली—
निज ओज की पूरन प्रभा दै करहिं तोहि सब विधि बली ।
मंत्र-सी श्रीराम लछिमन-धनु-प्रतिज्ञा- धुनि घनी ।
देइ तोको मंजु मंगल-करनि जय शोभा सनी ॥२८॥

ल०—(चं० को रथ से उतरता देख) कुमार, बस करो, हो गया आदर ! आप तो रथ पर बैठे ही अच्छे लगते हैं ।

चं०—तो आप भी दूसरे रथ की शोभा बढ़ावें ।

ल०—(सुमन्त से) आर्य राजकुमार को रथ पर बैठा लीजिये ।

सु०—तो तुम भी वत्स चन्द्रकेतु की बात मान लो ।

ल०—जो वस्तु अपनी ही है भला उसके स्वीकार करने में संकोच कैसा ? किन्तु बात यह है कि वनवासी होने के कारण हमें रथ पर चढ़ने का अभ्यास नहीं।

सु०—वत्स, तुम दर्प और सौजन्य का यथोचित वर्ताव करना जानते हो, जो कहीं तुम ऐसे को इक्ष्वाकु-कुल-कमल-दिवाकर राजा रामचन्द्र देखते तो उनका हृदय प्रेम से गद्गद् होजाता।

ल०—सुना गया है कि वे राजर्षि बड़े सज्जन पुरुष हैं:—

साँचहि हमहुँ न मख-विघनकारि।
जो रहे आपु निज हिय विचारि॥
गुनवन्त राम को जगत माहिं।
कहु मानत को जग पूज्य नाहिं॥
पै सब क्षत्रिनु कौं तुच्छ मानि।
तुव हय-रक्षक जो कही बानि॥
सुनि ताहि हमहुँ जिय चढ्यो रोस।
बस, और कछु नहिं कियो दोस॥२६॥

चं०—(मुस्कराता हुआ) क्या आप को हमारे पूज्य-चरण तात के प्रताप की बड़ाई बुरी लगती है।

ल०—अजी बुरी लगे या न लगे, पर इतना मैं पूछता हूँ कि राजा रामचन्द्र तो बड़े धीर स्वभाव के सुने जाते हैं। वे न तो स्वयं अभिमानी हैं न उनकी प्रजा को अभिमान होता है, फिर बतलाइये ये लोग उन्हीं के आदमी होकर ऐसी राक्षसी भाषा क्यों प्रयोग करते हैं; देखिये —

दरप भरे उन्मत्त पुरुष की बानी।

ऋषीनु ने सब ठौर राच्छसी मानी॥

सकल बैर को सोई बीज बुवावै।

नष्टभ्रष्ट करि जगत कष्ट उपजावै॥३०॥

इस प्रकार उन्होंने इसकी निन्दा की है और इसके विरुद्ध जो अन्य वाणी है उसकी प्रशंसा वे इस भाँति करते हैं—

कामना पूरी करै सब की दुख-दारिद को दल दूर बहावै।

पाप के पुंजहिं लुंज करै अरु कीरति लोनी लता उलहावै॥

सुन्दर सुनृत बानी सदा जय मंगल मोद की मातु सुहावै।

याही सों धीरनु के मन में वह काम-दुहा सुधेनु कहावै॥३१॥

सु०—भगवान वाल्मीकि के शिष्य इस कुमार का तो बड़ा ही पवित्र स्वभाव है। आर्ष दृष्टान्त दिये बिना तो बातें ही नहीं करना जानता!

ल०—और जो चन्द्रकेतु यह कहते हैं, कि क्या तुमको पूज्य-चरण तात के प्रताप की बड़ाई बुरी लगती है, सो आप ही बतलाइये कि क्षत्रिय धर्म क्या एक ही व्यक्ति के लिए है, क्या एक राम ही के सिर क्षत्रियों के समस्त वीरतादि गुणों का ठेका है, और कोई उनका आधार ही नहीं हो सकता?

सु०—बस करिये, अधिक न बढ़ाइये, कहने से परख लिया कि आप रघुवंशावतंस महाराज राम को नहीं जानते।

प्रबल सैनिक बीनि मारिकैं,
प्रगट सत्य करी तुम वीरता।
परशुराम झुके जिह सामने,
जनि बकौ उनकी कहि बात यों ॥३२॥

ल०—(हँसकर) आर्य मानलो कि उन्होंने परशुराम जी को भी हरा दिया, पर इससे भी क्या बड़ी प्रशंसा की बात हुई।

जीभ कौ बल द्विजन में यह स्वयं-सिद्ध प्रमान।
बाहु को बल क्षत्रियनु में जग प्रसिद्ध महान ॥
सस्त्र-धारी द्विज रहेउ भृगुवंसमनि महाराज।
कहु तिनहिं जय करि राम ने कियो कौन दुर्जय काज ॥३३॥

सु०—अब इन दोनों की क्रोधानल भड़क गई—

चं०—(बिगड़कर)

कोनसौ यह पुरुष उपज्यो नयो जग के माँहि।
जासु लेखे परसरामहु वीर-पुंगव नाहिं ॥
सप्त भुवनहिं अभय को जिन विपुल दीयो दान।
तिन तात पावन चरित को नहिं जाय रंचक-ज्ञान ॥३४॥

ल०—अजी रघुपति का चरित और उनकी महिमा कौन नहीं जानता, यदि कुछ कहने की बात हो तो कहा भी जाय, किन्तु हम अपने मुख से क्या कहें—

जे बड़े जगत तिन बड़े काम।
सब भाँति उचित उज्ज्वल ललाम ॥
तिन चरित अलौकिक अति उदार।
आलोच्य विषय हैं नहिं हमार ॥

जे करत सुन्दतिय को संहार।
लूटत अखंड जस तऊ अपार!

जे खर राक्षस सन युद्ध माँहिं।
त्रय पैंड हटत, तऊ "सभय" नाहिं!

जिन बालनिधन कौशल वितान।
तिन घोषणा छायो जग महान ॥३५॥

चं०—अरे, तूने तात की निन्दा करके मर्यादा तोड़ दी, और अब भी बकता ही जाता है।

ल०—क्या भौंह चढ़ा के लगे मुझे ही आँखें दिखाने!

सु०—अब इन दोनों की क्रोधानल भड़क गई,

कोपज है कम्प, जासों चोटिनु की गाँठि खुलि,
चचल चिकुर चारु कारे सटकारे हैं।
कछु कछु कोकनद-छद-छबि के समान,
भये नैन इनके अबुहि रतनारे हैं!
सिकुरत, चलत, कुटिल भौंह-भंग युत,
आनन सचोप अति उग्र-ओपवारे हैं।
लसत मयंक सकलंक, किधौं पंकज पै,
गुंजरत मानहुँ मलिन्द मतवारे हैं ॥३६॥

दोनों कु०—(परस्पर) अच्छा तो फिर, आओ रणयोग्य भूमि पर उतर चलें। (सब गये)

अंक ६

अथ विष्कम्भक

(उज्ज्वल विमानों पर चढ़े विद्याधर और विद्याधरी का प्रवेश)

वि०—अहो, असमय कलह के कारण परम प्रचण्ड अखण्ड क्षात्रतेज से दीप्त इन सूर्यवंशी कुमारों के विक्रम-युक्त विचित्र-चरित्रों ने सब सुरासुरों को कैसा विमोहित कर लिया है क्योंकि हे प्रिया, देखो—

झन झनन कंकन सम क्वणित कल कंकनीक विसाल।
जुग छोर सन लगि, जासु गुन, अति करति शब्द कराल॥
धनु तानि अस, सर तजत, जिन मिल निरत चंचल-चारु।
जग-भयद अद्भुत तिन दोउन मधि बढ़त युद्ध अपारु॥१॥

दोउ कुँवरनु के कल्यान काज।
दुम दुम दुन्दुभि नभ बजति आज॥
गम्भीर जासु सुख-दैन रोर।
जनु सरस सघन घन घन करोर॥२॥

इससे चलो हम भी, इन दोनों वीरों पर सुन्दर प्रफुल्लित स्वर्णमय सरोजों से मिश्रित, मधुर-मकरन्द-सुरभित, कल्पतरु, मन्दार आदि दिव्य-द्रुमों के नवीन-मणि सरीखे स्वच्छ कमनीय-कलित-पुष्पों की निरन्तर सानन्द सघन वर्षा करें।

विद्याधरी—अब के फिर किसलिए इस सहसा दौड़ती हुई विद्युच्छटा से सारा आकाश झटपट पिंगल वर्ण का हो गया है ?

वि०—आज तो,

किधौं त्रिलोचन को यह लोचन तीसरो।
खुल्यो सृष्टि-संहार हेतु रिस सों भर्यो ॥
चमकत जनु उज्ज्वल ज्योतिर्मय चण्ड है।
बिसकर्मा की सान चढ्यो मार्तण्ड है ॥३॥

(कुछ सोच कर) ओहो, जाना, अब जाना, वत्स चन्द्रकेतु ने यह अग्नेयास्त्र का प्रयोग किया है, उसी की यह ज्वाला बरस रही है:—

अवसि जासु भयानक झर्प सों,
झुरसि चौंर धुजा जिनके गये।
अस बिचित्र बिमानन्-मंडली,
भजि चली भय सों छितरायकें।
बिबिध रंग भये झुरसे लसें,
सुपट-अंचल दिव्य - धुजान के।
जनु सिखा उनपै बहु अग्नि की,
मुदित मंजुल कुंकुम ढारतीं ॥४॥

कैसे आश्चर्य की बात है, वह देखो भीषण वज्रखण्डों के समान तीक्ष्ण अंगारों की झड़ी लगाये, और वेग से लप-लपाती उठती ज्वाला- जिह्वा से उद्दण्ड भैरव रूप धारण

किये मानो साक्षात भगवान अग्निदेव चले आ रहे हैं। चारों ओर यह उन्हीं का प्रचण्ड प्रताप फैल रहा है। अब तो ज्वाला सही नहीं जाती, इसलिए प्यारी को अपने पार्श्व में छिपाकर यहाँ से कहीं दूर भागना चाहिए।

(वैसा ही करता है)

विद्याधरी—आहा प्राणनाथ ! मंजु-मुक्तमाल सम शीतल मृदुल तुम्हारे पुष्टकाय शरीर के स्पर्श से आनन्दोल्लासित मुक्त अधमुँदे तरल नयनों वाली का सन्ताप अब दूर हो गया है।

वि०—प्यारी, भला मैंने इस में क्या किया, अथवा—

बरु कछु न करै तऊ सर्वदा,
बसि समीप सबै बिपदा हरै।
सुहृद जो कहुँ जासु जहान में,
अवसि सो तिहि जीवनमूरि है ॥२॥

विद्याधरी—चमचमाती चंचला की चंचल चमकयुक्त, मतवाले मयूरों के कंठ सरीखे सघन-श्यामल धाराधरों से यह आकाश-मण्डल क्यों व्याप्त हो रहा है ?

वि०—अहा ! अवश्य ये कुमार लव द्वारा चलाये हुए वरुणास्त्र का प्रभाव है, देखो प्यारी, किस प्रकार सहस्रों निरन्तर मूसलधाराओं के पड़ने से पावकास्त्र ठण्डा हो गया।

वि० ध०—यह बड़े आनन्द की बात हुई !

वि०—हाय हाय ! अति सब की बुरी होती है क्योंकि प्रबल आँधी के जोर से चारों ओर उमड़ते-घुमड़ते घूमघूम कर घनघोर मचाते काले मतवाले मेघों के सघन गाढ़ान्धकार में अँधा

हुआ, किंवा सहसा सम्पूर्ण विश्वग्रसनार्थ फटे हुए विकराल कालकंठ की मुखकन्दरा में चक्कर खाता हुआ, अथवा युगान्तर की योगनिद्रा में मग्न निश्चेष्ट साँस बन्द किये नारायण के उदर में पड़ा हुआ-सा ये सम्पूर्ण जीवलोक काँप रहा है। वाह! कुमार चन्द्रकेतु वाह, उपयुक्त अवसर पर तुमने वायव्यास्त्र का प्रयोग किया। क्योंकि—

चलत पौन अहा वह देखिये,
नसि गयी घन मेघन की घटा।
जगत ज्ञान हिये जिमि होत है,
जग-प्रपञ्च सबै लय ब्रह्म में ॥६॥

विद्याधरी—नाथ, देखो तो ये कौन हैं जो शीघ्रता के साथ, ऊँचा हाथ किये, दूर ही से पटके का छोर हिलाकर लड़ाई को मधुर भाषण द्वारा बरजते हुए, दोनों कुमारों के बीच में अपना विमान उतार रहे हैं।

वि०—(देखकर) यह तो शम्बूक को मार कर महाराज रघुनाथ जी आ रहे हैं!

सुनिकैं वर बैन प्रभाव भरयो उनको, मृदु-मंजु सनेह सों छायो।
तिन गौरव-राखन, युद्ध तज्यो लव, भारत सीरो सुभाव सुहायो॥
अरु चन्द्रकेतु विनीत महा, निज तात के पायनु सीस नवायो।
अस पूत दोऊन के भेटन सों नृप मंगल मोद लहैं मनभायो॥७॥

चलो प्रिया अब हम भी इधर से चलें।

(दोनों जाते हैं)

(इति विष्कम्भक)

(रामचन्द्रजी को प्रणाम करते हुए लव और चन्द्रकेतु का प्रवेश)

रा०—(पुष्पक विमान से उतर कर)

दिनकरकुल के चन्द, चन्द्रकेतु पावन परम ।
करहु मोहि सानन्द, लागि हृदय मो तुरत अब ॥
निज सरीर परसाउ, तुहिन सरस सीतल सुखद ।
प्रिय सुत आइ नसाउ, विकल-कारि मम-तिय-जरनि ॥८॥

चं०—महाराज को प्रणाम है ।

रा०—(प्रेम से आँसू भर तथा उसे गले लगाकर)
बेटा, दिव्यास्त्र धारण करने वाले तुम कुशल से तो रहे ?

चं०—महाराज के आशीर्वाद और अद्भुत पराक्रमशाली प्रिय-दर्शन लव के दर्शन-लाभ से मुझे परम आनन्द है । अब तात, आपकी सेवा में विशेषकर यह निवेदन है कि आप उसी कृपादृष्टि के साथ जो कि मेरे ऊपर रही है अथवा उससे भी अधिक दयाभाव से इस प्रशस्त महावीर को देखिये ।

रा०—(लव को देखकर) अहा वत्स ! चन्द्रकेतु के मित्र की बड़ी गम्भीर सुहावनी सूरत है ।

तनधारी किधौं धनु-वेद लसै, तिहूँ लोक की पीर नसावन काज ।
वह औतारयी क्षत्रिय धर्म किधौं, श्रुति-पावन सेतु रखावन काज ॥
किधौं शक्ति समाज उदोत भयो, गुन संचय के मन भावन काज ।
जग पुण्य पदारथपुंज घनो, किधौं प्रेम-प्रमोद जगावन काज ॥९॥

ल०—अहो, दर्शनमात्र ही से इन महापुरुष का पुण्य-प्रभाव अनुभव होता है।

अभयदान सनेहऽरु भक्ति कौ,
मनहु एक यही अवलम्ब है।
धरम धीरज की अथवा लसै,
मधुर मूर्त्ति प्रसन्न प्रभामयो ॥१०॥

अहा कैसे आश्चर्य की बात है !!

अन्तरध्यान विरोध भयो, हिय सान्त सुभाय ने रंग जमायो।
ऐंठ न जानै गई कितकों, अरु नम्रता ने अति मोहि नवायो॥
दर्सन सों इन के झट ही, यह जानि परै बस काऊ के आयो।
साँचुही तीरथ कौ सो प्रभाव अनूपम ऐसेनु मैं बिरमायो ॥११॥

रा०—अहा, अकस्मात् ही सम्पूर्ण दुःख शान्त होकर न जाने क्यों अन्तःकरण में स्नेह उमड़ रहा है। और लोग यह भी कहते हैं कि स्नेह सर्वदा किसी न किसी निमित्त पर निर्भर होता है, तब तो इन दोनों वाक्यों से एक दूसरे का निषेध हुआ, किन्तु—

यह गूढ़ सुभाउ को कारन कोउ, सबै जग में जिय मेल मिलावै।
नहिं निर्भर सुन्दर रंग औ रूप पै प्रेम-प्रथा, निहचै मन आवै॥
लखि मित्र पवित्र सरोरुह होय प्रफुल्लित प्यारी छटा सरसावै।
अरु चन्द्र के होत उदोत द्रवै नित चन्द्रकान्तमनी चितभावै ॥१२॥

ल०—चन्द्रकेतु ये कौन हैं ?

चं०—प्रिय, ये मेरे आराध्य-चरण पूज्य तात हैं।

ल०—जैसे तुम्हारे लगते हैं वैसे ही हमारे भी लगे, क्योंकि आप तो हमें मित्र मान चुके हो न ? किन्तु रामायण के चरित्रनायक तो चार पुरुष हैं जिनमें से प्रत्येक को तुम इसी पद (तात) से सम्बोधन कर सकते हो, इसलिए बतलाइये यह उनमें से कौनसे हैं ?

चं०—ये हमारे सबसे बड़े तात हैं।

ल०—(उल्लास से) अहा क्या ये रघुनाथजी हैं, आज का दिन धन्य है जो इनका दर्शन हुआ। (विनय और कौतुक से देख कर) हे तात, यह वाल्मीकिजी का शिष्य आपको प्रणाम करता है।

रा०—आओ प्यारे आओ, बस करो बेटा बहुत विनय हो चुकी, आओ बारबार मेरे हृदय से लगकर आनन्द दो—

नव ललित प्रफुलित कमल कोमल गर्भ-दल अनुहार।
नव परस सुन्दर सरस सुखप्रद सुभग सुचि सुकुमार॥
घनसार चंदन लेप सम सीतल तुचंद अमंद।
मम अंग सों लगि देत प्रिय अनुपम परम आनन्द॥१३॥

ल०—(आप ही आप) इनका स्नेह तो देखो अकारण ही मेरे ऊपर कितना अधिक है। और फिर भी मैंने बेसमझे-बूझे इनसे इतना वैर बढ़ा लिया कि शस्त्रग्रहण करने तक की नौबत पहुँच गई (प्रगट) तात, आशा है कि आप मेरी इस चपलता को अब क्षमा करेंगे।

रा०—वत्स, तुमसे कौनसा अपराध बन पड़ा ?

चं०—हय-रक्षकों के मुख से आपके प्रताप का बखान सुनकर इन्होंने अपनी वीरता दिखाई।

रा०—क्या डर है यह तो क्षत्रियों का भूषण ही है।

नहि तेजधारी सहत कबहूँ, बढ़त अन्य प्रताप।
यह प्रकृति-जन्य सुभाव उनको, अटल अपने आप॥
यदि तपत नभ करि सूर्य अखिरत किरन कुल विस्तार।
किमि सूर्यमनि अपमान निज गिनि, वमत अग्नि अपार॥१४॥

चं०—तात, इस वीर का क्रोध भी शोभा देता है, देखिये इनके चलाये जृम्भकास्त्र के कारण सेना चारों ओर बेसुध पड़ी है।

रा०—(देखकर) बेटा लव, अपने अस्त्र हटा लो और चन्द्रकेतु तुम भी जाकर निर्व्यापार विस्मयापन्न सेना का आश्वासन करो।

ल०—बहुत अच्छा अभी लीजिये। [ध्यान में मग्न होता है]

चं०—जो आज्ञा !　　　　　　　　　　　　[जाता है]

ल०—लीजिये अस्त्र का निवारण हो गया।

रा०—वत्स, ऐसे अस्त्रों का प्रयोग तथा निवारण मन्त्र ही से होता है और गुरुपरम्परा से ही ये सिद्ध किये जाते हैं—

वेद द्विज रच्छा निमित, विधि आदि सुर मुनि-वृन्द।
कियेउ सहसन बरस लों, तप कठिन अति स्वच्छन्द॥
तप-तेज-बल अपनोहि तब पूरन प्रभासित स्वच्छ।
लखेउ तिन इन सस्त्र-चय के रूप में प्रत्यच्छ॥१५॥

तदन्तर इस समन्त्र गूढ़ विद्या को भगवान् कृशाश्व ने सहस्र वर्ष से भी ऊपर सेवा करने वाले शिष्य विश्वामित्र के हेतु प्रदान किया और उनके प्रसाद से हमने सीखा, यह तो पहला क्रम है। फिर तुमको किसने बतलाया यह हम जानना चाहते हैं।

ल०—आप से आप हम दोनों को यह अस्त्र सिद्ध हो गये।

रा०—(विचार कर) असम्भव कुछ नहीं, परम-पुण्य फल की यह कोई महिमा है परन्तु द्विवचन का प्रयोग तुमने क्यों किया ?

ल०—हम दो भाई हैं जो एक ही साथ जन्मे थे।

रा०—तो वह दूसरा कहाँ है ?

(नेपथ्य में)

(भाण्डायन, भाण्डायन !)

का चिरंजीव लव सँग, अथोर।
नृप-सेन करत संग्राम घोर।
प्रिय सखा, बतावहु सकल भेव।
का कहत ? 'अजी यह सत्यमेव' ॥
सो अब त्रिभुवन मधि भासमान।
'अधिराज' शब्द हो नासवान ॥
क्षत्रिय जात्यायुध अनल कान्ति।
याही छिन सों बस होइ सान्ति ॥१६॥

रा०—इन्द्रमनी-की-सी स्याम-छटा, यह को है मनोहर धारन हारो।
जा कलकंठ की मंजुधुनी सुनि, गात सबै पुलकात हमारो ॥

ज्यों लहि नीलनिकाई-भरयो नवनीरद धीर निनाद सुखारो।
उच्छ्व सों लहरात कदम्ब-कली-कुल सों तन साजि पियारो ॥१७॥

ल०—यही मेरे बड़े भाई कुश हैं, भरताश्रम से लौट कर आ रहे हैं।

रा०—(कौतुक से) वत्स, तो इस चिरंजीव को भी यहाँ बुलालो।

ल०—बहुत अच्छा !

(जाता है)

(कुश आता है)

कु०—(अद्‌भुत हर्ष और धैर्य से धनुष उछालता हुआ)

वैवस्वतमनु के अगार सों अवेलों जिन,
दियो पाक-सासन को अभय प्रदान है।
गरब हरन गरबीन को दिगन्तमाहिं,
जिनको जुलन्त क्षात्र-तेज को कृसान है॥
तिन सूरबंसी भट भूपनिसों आजु यदि,
ठनि जाय संगराम विकट महान है।
दिव्यायुध-उग्र-दुति-जित गुनधारो,
तो सफल धन्य धन्य मम धनुवान है॥१८॥

रा०—यह क्षत्रिय कुमार तो बड़ा पराक्रमी विदित होता है—

तृनहू सम तीनहुँ लोकनि को बल, जो नहिं आँखिन के तर लावत।
अति उद्धत धीरगती सों मनो, अचला कों चले बुह धीर नवावत ॥१९॥

ल०—(आगे बढ़ कर) आर्य की जय हो।

कु०—आयुष्मन्, यह चारों ओर क्या युद्ध जुद्ध की बात चल रही है ?

ल०—यह तो जो कुछ है सो है, परन्तु आप को अपना दर्प त्याग कर इन महापुरुष के साथ विनय का वर्ताव करना उचित है।

कु०—सो किसलिए ?

ल०—देखो यह श्री रघुनाथ जी महाराज बैठे हैं, जो हम दोनों पर बड़ा स्नेह रखते हैं और आप से मिलने को उत्कण्ठित हो रहे हैं।

कु०—(सोचकर) क्या वे ही जो रामायण की कथा के नायक और वेद-रत्नाकर की रक्षा करने वाले हैं।

ल०—हाँ वे ही।

कु०—वे तो बड़ी ही प्रशंसा के योग्य पुण्य दर्शन महात्मा हैं, परन्तु उनके समीप किस प्रकार चलना चाहिए यह समझ में नहीं आता।

ल०—जिस रीति से पिता आदि गुरुजनों के निकट जाते हैं उसी रीति से चलिए।

कु०—ऐसा क्योंकर हो सकता है ?

ल०—परम पराक्रमशाली, उर्मिला के पुत्र, चन्द्रकेतु बड़े ही सज्जन हैं, और वह हमारे साथ मित्रभाव मानते हैं,

इसलिए इनके सम्बन्ध में ये राजर्षि हमारे धर्म के पिता हुए।

कु०—और ऐसे क्षत्रियों से विनयभाव अवलम्बन करना भी कुछ लज्जा की बात नहीं है।

ल०—तो फिर आइये और ऐसे पुण्य-चरित महापुरुष के दर्शन कीजिये, जिनके चहरे से गम्भीरता टपकी पड़ती है।

कु०—(देखकर)

कस मृदुल मोहन रूप है,
प्रिय पुन्यसील अनूप है।
कथि रम्य रामायण खरी,
कवि सफल बानी निज करी ॥२०॥

(आगे बढ़कर) वाल्मीकि मुनि का शिष्य कुश, आपको प्रणाम करता है!

रा०—चिरंजीव रहो बेटा, आओ हमारे पास आओ।

तुव निरखि रूप रसाल,
जनु सजल घन घन-माल।
करै नेह-बस यह जीह,
तोकों लगावहुँ हीय ॥२१॥

(छाती से लगाकर आप ही आप) तो क्या यह बालक मेरा पुत्र ही है ?

मो तन सों उत्पन्न किधौं, यह बाल-स्वरूप में नेह को सार है।
कै यह चेतना धातु को रूप, करै कढ़ि बाहिर मंजु विहार है॥
पूरी उमंग हिलोरत हीय के भावको कैधौं लसे अवतार है।
जाहीसों भेंटि सुधारस ले जनु सिंचत मो सब देह अपार है॥२२॥

ल०—तात, सूर्य की किरणें आपके माथे पर पड़ रही हैं, आइये इस साल-वृक्ष की छाया में छिन भर बैठकर विश्राम कर लीजिये।

रा०—जो कुछ वत्सों को अच्छा लगे।

[सब चलकर बैठते हैं]

रा०—(आप ही आप)

विनय-भक्ति यद्यपि कुश लव की बरनि न जाई।
बैठनि उठनि अमोल चलनि बोलनि सुखदाई॥
तोऊ उच्च उदारभाव इन माहिं बिलच्छन।
दरसावत नृप चक्रवर्ति-के-से सुभ लच्छन॥२३॥

सुलच्छन राजन के सों सुहाई अनोखी अकृत्रिम सुन्दरताई।
सबै जनके मन भाई, बढ़ावत दोउन के तन की सुघराई॥
मयूख-जटा सन छाई लसैं जिमि उज्ज्वल रत्न-प्रभा रुचिराई।
लहै मकरन्द के बिन्दुनसों अरविन्द निकाई अनूपमताई॥२४॥

ये दोनों अधिकतर रघुकुल-कुमारों की अनुहार गये हैं क्योंकि—

कल कपोत सुकंठसम, जिन रंग बिलसत स्याम।
बर वृषभ-के-से कंध सोहत गठित अंग ललाम॥
मन मुदित धीर मृगाधिपति, सम, करत दृष्टि अलोल।
अरु मंगलीक मृदंग सम गम्भीर बोलत बोल॥२५॥

(अच्छी भाँति निहार कर) अरे केवल हमारे ही अंग के समान रूपरंग नहीं है, किन्तु—

निपुणता युत लखन सों सिसु युगल सुन्दर गात।
सिय रूप को अनुरूप इनमें अति प्रतच्छ जनात॥

यह लगत जनु पुनि दृष्टिगोचर होत सुखमा-सद्म।
प्रिय, प्रफुल्लित, मृदुल, मंजुल-मो-प्रिया-मुखपद्म ॥२६॥
लसैं रद उज्ज्वल मोती समान, वुही छबि मोहनी मंजु रसाय।
मनोहर हैं तिनसों दोउ ओठ, वुही श्रुत सोभा रही सरसाय ॥
भले दृग स्यामल औ रतनार सुहावत, यद्यपि तेज जनाय।
तऊ इनमें बिलसैं वुही चारु प्रिया के कटाच्छन की समताय ॥२७॥

और यह तो वाल्मीकिजी के रहने का वन है जहाँ सीता देवी त्यागी गई थीं, इन दोनों बालकों का रूप-रंग भी वैसा ही है, यद्यपि इनके कथनानुसार ये जृम्भकास्त्र इन पर स्वयं प्रकाशित हुए हैं, तथापि यह मेरा पूरा विश्वास नहीं है। संभव है कि मैंने जो चित्र-दर्शन के समय प्रिया से कहा था कि ये अस्त्र तुम्हारे होनहार कुमारों के पास जायेंगे, यह उसी का फल हो क्योंकि पहले से भी ऐसा ही सुनते हैं, कि बिना गुरु के दिये ये जृम्भकास्त्र किसी को नहीं मिलते। और ये हृदय का सुखातिशय मेरे अस्थिर चित्त पर न जाने क्यों इस प्रकार की बारम्बार ठगोरी डालता है। इसके सिवाय ये भी विचारणीय है कि—

जब दम्पति-प्रेम-प्रसून खिल्यो ढिंगबास तें दूनो बिनोद जगाय।
सबसों पहले मोहि जाँच परी सिसु जुग्म की, गर्भ टटोरि सुहाय ॥
तिय जाति सुभाय इकन्तहु में दृग नीचे किये तब मोसों लजाय।
परि थोस कछूक के पाछें खरो मन प्यारी के ज्ञान भयो यह आय ॥२८॥

(रोकर) तो इनसे किसी उपाय से पूछूँ कि ये दोनों किस के बालक हैं।

ल०—तात यह क्या बात है जो:—

> जग मंगलप्रद बदन तुव, नंदन नीर-कन धारि।
> ओसबिन्दु-युत कंज की, करत मंजु उनहारि ॥२६॥

कु०—भैया,

> सियादेवी बिना रघुनन्दन को चहुँधा सब सोकहिसोक लखाई।
> निज प्यारी वियोग बिथासों तिन्हें, बनतुल्य सबै जग देत दिखाई।
> वह सीतल प्रेम-प्रमोद कहाँ, बिरहागिसों हीतल तप्त सदाई।
> तुव मानो पढ़ी कबहूँ न रमायन पूछत ऐसे अजान की नाई ॥३०॥

रा०—(आप ही आप) हा, यह तो ऐसी बेलाग बात हुई जिस से कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता, अब बस करो पूछने से क्या होगा ? अरे दग्ध हृदय, ऐसा तू अकस्मात स्नेह से उबल पड़ा और एक साथ खुल गया कि लड़के भी तुझ पर तरस खाने लगे ! अच्छा तो कुछ और छेड़ूँ (प्रगट) वत्स, तुम दोनों ने जो भगवान वाल्मीकि की पद्यमयी मनोहारिणी रविकुलकीर्त्ति-प्रभा-विस्तारिणी रामायण पढ़ी है उसका कुछ अंश कौतूहल वश मुझे भी सुनने की इच्छा है।

कु०—वह सम्पूर्ण ग्रन्थ ही हमने पढ़ा है। लीजिए, बालकाण्ड के अन्तिम अध्याय में निम्नलिखित भाव के ये दो श्लोक स्मरण आते हैं !

रा०—अच्छा बोलो बेटा।

कु०—रघुकुल कमोद-बिधु जो न्यायी उदारधारी।
बिथही सुभावही सों तिन राम की पियारी॥
तिहि नेह की सलोनी लतिका ललाम छाई।
गुन मंजु पाय तिनके पुनि और लहलहाई॥३१॥
सिय के तथैव सो हे निज प्रान सोंहु प्यारे।
अरविन्द नैन-वारे अवधेश के दुलारे॥
जो प्रीति-योग तिनके अन्योन्य-प्रति सुहायो।
तिहि कहि सके न कोऊ हिय को हिये में भायो*॥३२॥

रा०—हाय, यह तो हृदय-मर्माच्छिद बड़ा ही कठिन कष्ट है: हा देवी, निस्सन्देह तुम ऐसी ही थीं। अहो, अकस्मात् अवस्थान्तर प्राप्त होने से वियोगान्तमयी सांसारिक घटनाएँ सन्ताप को कितना बढ़ाती हैं।

कहँ निरतिशय विसवास-मय स्वच्छन्द, सो आनन्द।
कहँ ते कुतूहलप्रद, परस्पर मन-विनोद अमन्द॥
सुख दुःख में वह एकसी, सहृदयता कित हाय।
किहि लगि पापी प्रान, अजहूँ, तन रह्यो बिरमाय॥३३॥

हाय हाय—

सरल सुभग सुन्दर सरल, मृदुल मनोहर स्वच्छ।
प्यारी के अनगिन्त गुन, उदय करन में दच्छ॥

---

* प्रकृत्येव प्रिया सीता रामस्यासीन्महात्मनः
प्रियभावः सतु तया स्वगुणैरेव वर्धितः
तथैव रामः सीतायाः प्राणेभ्योऽपिप्रियोऽभवत्
हृदयंत्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्॥३२॥

बहु दिन को बिसरयो समय, सुमिरत जो दुख-दैन।
आइ हिये करक्यो वही, सुनि इनके ये बैन ॥२४॥
कंज-कलीसी जो खिली, प्रिय तरुनाई पाय।
नव उमंग अंगनि बसी, लाज निकाई आय ॥२५॥

कु०—और यह मन्दाकिनीकूलवर्ती चित्रकूट के वन-विहार में सीता देवी से निम्न भाव का राम ने श्लोक कहा—

कैसी चोखी चीकनी, स्फटिक सिला दरसाय।
जनु तुम्हरे ही काज यह, धरी बिरञ्चि बनाय ॥
चहुँ दिसि यापै बिछि रहे, देखौ सुन्दर फूल।
चम्पा-द्रुम ने मनु सजी, सैया तुव अनुकूल* ॥२६॥

रा०—(लज्जा, स्नेह और करुणा से) ये बालक बड़े भोले हैं। विशेष कर वनवासी होने के कारण ये लोग यह नहीं जानते कि कौन बात कहने योग्य है और कौन नहीं। हा देवी ! तुम्हें उन प्रदेशों का स्मरण है जो हम दोनों के विश्वस्त स्वच्छन्द विहारों के अभी तक साक्षी हैं। हाय हाय—

जाके कुंकुम लेप बिन, उज्ज्वल अरुन कपोल।
श्रमसीकर सीतल भयो, जो अनुपम अनमोल ॥

---

* त्वदर्थमिव विन्यस्तः शिलापट्टोऽयमग्रतः।
यस्यायमभितः पुष्पैः प्रवृष्टि इव केसरः ॥२६॥

मन्द मन्द लगि पवन जहँ, मन्दाकिन कौ आय।
प्यारी घुँघरारी अलक, जासु दयी बिचलाय॥
ललित-ललाट मयंक-दुति, आकुल लहि तिन भार।
लहलहाति-चुइ-सी परी, इत-उत चलि बहु बार॥
निराभरनश्रुति तउ सुभग, अस तुम्हरो मुखचन्द।
सुरति करति हिय में अजहुँ, भरत छनिक आनन्द॥३७॥

(रुके हुए के समान कुछ ठहर कर करुणा से)

जब ध्यान में तन्मय होत, स्वकल्पित तासु स्वरूपहि दीसिपरै।
बिरहा की दसाहू में धीरज दै, इमि प्यारो सदा दुख दूरि करै॥
भ्रम नष्ट भये पै कछू न कछू, बन जीरन को जग रूप धरै।
घबराय महा बिलखै दुखिया, जियमानो तुषानल माहिं जरै॥३८॥

(नेपथ्य में)

गुरु वशिष्ठ बाल्मीकि ऋषि, कौशल्या मिथिलेस।
अरुन्धती युत सभय सब, सुनि सिसु-कलह कलेस॥
वृद्ध अवस्था बस निबल, रहे दूरि सों आय।
चल्यो जात नहिं श्रम-ग्रसित, तउ अति आतुर हाय॥३९॥

रा०—ओहो, क्या भगवती अरुन्धती, भगवान वशिष्ठ, माता और विदेहराज भी यहीं हैं। हाय हाय मैं उनसे किस प्रकार मिल सकूँगा (करुणा से देखकर) अहह! तात जनक जी भी दैवयोग से यहाँ ह आ रहे हैं, हाय! यह मुझ अभागे के लिए वज्राघात है

जाकी करी सराहना, गुरुजन प्रमुदित हीय।
लखि स्वल्प्याह में तात की, अस मिलनी रमनीय ॥
सो पितुसुख अरु बिपत यह, कैसे देखत नैन।
किहि अभाग बस राम की, छाती आजु फटै न ॥४०॥

(नेपथ्य में)

[हाय हाय]

केवल तेज बिसेस सों, होत जासु अनुमान।
छबि मलीन अस रघुपतिहिं, औचक ही पहचान ॥
पहले के मूर्च्छित परे, जनक नृपहिं चेताय ॥
सोक बिकल बेसुध गिरी, मातहु हा घबराय ॥४१॥

रा०—हा तात, हा माता, हा जनक !

निमिबंस और रघुबंस की जो सतत-मंगल कारिनी।
तिहुँ भुवन मधि कमनीय कीरति-कौमुदी बिस्तारिनी ॥
ता निरपराधिनि सीय हित यह निठुर पापी राम है।
मो तुल्य निरमोहीतु पै तुव मोह को कहा काम है ॥

(विचार कर) और नहीं तो थोड़ा बहुत ही आगे बढ़के अब इनसे मिलूँ।

(उठते हैं)

कु० और ल०—इधर से तात, इधर से।

(करुणा से भरे सब बाहर जाते हैं)

अंक ७

[स्थान-रंगभूमि]

[लक्ष्मण का प्रवेश]

लक्ष्मण—आज भगवान वाल्मीकि जी ने हमें, तथा ब्राह्मण, क्षत्री आदि सम्पूर्ण पुरवासियों और सुरासुर नाग किन्नर आदि समग्र चराचर प्राणीमात्र को, अपने तपोबल के प्रभाव से एकत्रित किया है और महाराज राम ने आज्ञा दी है कि आज भगवान वाल्मीकि अपना बनाया नाटक अप्सराओं से खिलवायँगे उसे देखने के लिए हमारा भी निमन्त्रण है, सो गंगा जी के किनारे रंगभूमि रचवाकर सब दर्शकों का यथोचित प्रबन्ध कर दो। हमने मनुष्य देवता और सब जीव-समूह को यथा योग्य स्थान में बैठा दिया, और—

जे नृप-धर्म के पालन में स्व-प्रजा-अनुरंजनता सों छये हैं।
ता संग धारि तपोवन के मुनि-घोर-व्रतै जग धन्य भये हैं॥
श्री वाल्मीकि महाऋषि के कविता-गुन-गौरव-नेह मये हैं।
देखहु आरज-बंस सिरोमनि राम यहाँ शुइ आइ गये हैं॥ १॥

[श्री राम का प्रवेश]

रा०—वत्स लक्ष्मण, दर्शक तो सब अपने अपने स्थान पर बैठ गये न ?

ल०—हाँ जी, सब बैठ गये।

रा०—अच्छा तो इन प्यारे कुश लव को भी कुमार चन्द्रकेतु के बराबर स्थान मिलना चाहिए।

ल०—महाराज का स्नेह जानकर पहले ही इसका प्रबन्ध कर दिया गया है अब तो आप भी राजगद्दी पर विराजिये।

रा०—(बैठते हैं)

ल०—अच्छा भाई, अब अपना नाटक प्रारम्भ करो।

सूत्रधार—(सामने आकर)

महाशयगण, यथार्थवादी भगवान वाल्मीकि ऋषि सब चराचर प्राणीमात्र को आज्ञा देते हैं, कि हमने अपनी आर्ष-दृष्टि से देखकर अद्भुतकरुणारस से पूर्ण यह जो कुछ पवित्र नाट्य-प्रबन्ध आपके सामने उपस्थित किया है, उसका वृत्तान्त सब सच्चा और बड़े महत्व का है; इसलिए आप सब लोगों को उसे सावधान होकर देखना चाहिए।

रा०—बहुत ठीक कहा, ऋषि लोग ऐसे ही होते हैं, उनके लिए केवल दिव्यदृष्टि से, क्या दृष्ट और क्या अदृष्ट सब धर्म प्रत्यक्ष ही के समान हैं। उन महाभागों की सुधामय उत्कर्षतत्ववाली, रजोगुण से परे सत्व-गुणयुक्त और बोधनशक्तिशालिनी वाणी किसी देश व किसी स्थान अथवा किसी काल में नहीं रुकती, अतएव उसमें शंका करना व्यर्थ है।

(नेपथ्य में)

(हा आर्यपुत्र ! हा कुमार लक्ष्मण ! मुझ अभागिनी के बालक हुआ चाहता है, इसलिए उसकी वेदना से बड़ी

दुखी हूँ और अकेली निराश्रय जंगल में पड़ी हूँ। मुझे पापी बाघ, भेड़िये खाने को दौड़ते हैं। हाय, अब मैं अभागिनी क्या उपाय करूँ? कहाँ जाऊँ? निराश हो गंगाजी में कूद पड़ती हूँ।)

ल०—हाय, यह तो कुछ और ही बात निकली।

सू०—बिस्वभरनि जो धरनि, तासु तनया, सिय प्यारी।
निरपराधिनी, जो वह कों नृप राम निकारी॥
प्रसव-बेदना-बिकल नयन सन नीर बिसारति।
हाय हाय करि गंग माहिं अपने कों डारति॥२॥

(निकलता है)

रा०—(घबड़ा कर) देवी देवी, तनिक ठहरो!

ल०—महाराज, यह तो नाटक है नाटक!

रा०—हा देवी, दण्डक वनवास की प्यारी सखी, राम के कारण तुम्हारी यह दुर्दशा!!

ल०—आर्य! नाटक का अर्थ तो देखिये।

रा०—यह लो हम तो वज्र की छाती किये देखते ही हैं।

(पृथ्वी और गंगा एक एक बालक लिये सीता को सम्हालती हुई दिखाई पड़ती हैं)

रा०—वत्स लक्ष्मण, जो कभी सुना न था सो सब आकर आज उपस्थित हुआ है। सम्हालो भैया, मैं मोहान्ध में डूबा जाता हूँ।

दो० दे०—

गहि धीरज हीय सुता अपने, अब सोच की मारी मरै जनि प्यारी।
बिसवास हमारो करै नहिं क्यों, खरी तू जग में बड़भागिनि भारी॥

यह तैंने जने सुठि बालक जो जग माँहिं पुनीति विदेह दुलारी।
इन दोउन सों चलि है फलि है; बसुधा तलपै रघुबंस अगारी ॥३॥

सी०—अहो भाग जो दो पुत्र जनमे, हाय आर्यपुत्र! (मूर्च्छित होती है)

ल०—(चरणों पर गिरकर) आर्य, आर्य, अहा भगवान ने फिर दिन फेरे, रघुवंश के कल्याण का अंकुर फिर से लहलहा उठा (देखकर) हाय, क्या आर्य बेसुध-से हो रहे हैं और नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है।

पृ०—पुत्री धीरज धरो।

सी०—भगवती तुम कौन हो और ये कौन हैं?

पृ०—यह तुम्हारी ससुराल की कुलदेवी भागीरथी हैं।

सी०—भगवती, मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ।

गं०—बेटी जैसा तुम-सी पतिव्रता के लिए चाहिए वैसा ही तुम्हारा कल्याण हो।

ल०—(अलग) हम लोगों पर बड़ी कृपा हुई।

गं०—यह तुम्हारी जननी वसुन्धरा हैं।

सी०—हाय, मा आपने मुझे इस दशा में देखा।

पृ०—आओ मेरी लाड़िली बेटी (छाती से लगाती है)

ल०—(सहर्ष) अहा, पृथ्वी और गंगा दोनों का महारानी पर अनुग्रह है।

रा०—(देखकर) यह तो अत्यन्त करुणा-जनक दृश्य है।

गं०—यदि विश्वम्भरा पृथ्वीदेवी भी व्यथित होती हैं तो अपत्य-स्नेह सबसे अधिक होता है। सचमुच इस मोहमाया की

ग्रन्थि से सब प्राणीमात्र का हृदय गुथा हुआ है। संसार का बन्धन तोड़ना अत्यन्त दुष्कर है, बेटी वैदेही और देवी वसुन्धरा, धीरज धरो, अपने हृदय को सँभालो।

पृ०—देवी गंगा, सीता को जनकर कैसे धीरज धरूँ—

सोऊ लयो सहि, जो सियनैं कियो राक्षस के बहुकाल निवास।
कैसे सह्यो अब जाय बतावहु ताही को दूसरो ये बनवास॥

गं०—या जग में विधना, सजनी, करनी निज हीय विचारत जोऊ।
सो विधिसों बुद्द हैके रहै, नहिं ताहि मिटाय सकै जन कोऊ॥४॥

पृ०—ठीक कहती हो, सखी पर क्या रामचन्द्र को यह उचित था? हाय उन्होंने यह न सोचा कि:—

भयो ब्याह जा संग में, बालपने के माहिं।
धरनी-सुता अयोनिजा, यामें पातक नाहिं॥
राऊ रूपो जाको जनक, जनक सिखावत जोग।
ताकी का कहि है सुता, ऐसो निपट अयोग॥
लंका सों निकरत करी, अग्नि-परीच्छा जासु।
जिहि तन लगि चंदन भई, अंधी कहा हुतासु॥
भयो जबै बनवास तउ, संग परी जो रोह।
कियो सुहातो पीय को, सदा अपनपो खोइ॥
पियरी तन बलछीन अति, कँपति गर्भ के भार।
याही सों रघुबंस की, सन्तति चलै अगार॥
इतनी बातनि में न कछु, राम करयो परिमान।
लरकबुद्धि परि काउ को, गिन्यो न मान अमान॥२॥

सी०—हाय, आर्यपुत्र की सुधि क्यों दिलाती हो।

पृ०—हा अब भी आर्यपुत्र तेरे कुछ लगते हैं ?

सी०—[लज्जा से आँसू भरकर] तो जैसा माँ कहैं।

रा०—(अलग) भगवती वसुन्धरा ठीक ! मैं इसी योग्य हूँ !!

गं०—प्रसन्न हो, भूतधात्री, आप तो संसार की देह हो, फिर भी अजान की भाँति अपने जमाता पर क्रोध करती हो।

देखिए :—

लोग लुगाइन में चरचा अपकीरति की अति फैल रही है।
लंका में अग्नि परीच्छा भई कोउ मानत ताहि यहाँ न सही है॥
'राखे प्रजा अनुरञ्जन को धन' या रघुवंस ने टेक गही है।
ऐसी दसा में बिचारे रघुपति कों करनी तब काह चही है॥६॥

ल०—देवता ही प्राणियों के अन्तःकरण के मर्म को भली भाँति जान सकते हैं, और विशेषकर गंगादेवी; इस कारण भगवती आपको मेरा प्रणाम है।

रा०—सचमुच ही आपके अनुग्रह का प्रवाह महाराज भागीरथ के वंश में निरंतर बहता रहता है।

पृ०—देवी भागीरथी, मैं तुम्हारे ऊपर नित्य प्रसन्न ही हूँ परन्तु इस लड़की का असह्य दुःख देखकर छाती फटती है। मैं क्या नहीं जानती हूँ कि राम का प्रेम सीता पर कितना है।

घाव-चवाइन के चहुँ ओरसों, है कै महा मन माहिं दुखारी।
जानि बली जिन देवप्रकोप कों बेबस राम तजी सिय प्यारी॥
जो अपनो तन राखि रहे, यह तासु अलौकिक धीरज भारी।
और प्रजा-कृत-पुण्य-प्रताप है, मंजुल भूप सुमंगल कारी॥७॥

रा०—(आप ही आप) माता-पिता लड़कों पर दया न करें तो कैसे काम चले।

सी०—(रोती हुई हाथ जोड़कर) माँ, मुझे अपने में लीन करलो।

रा०—(आप ही आप) देखें और क्या कहें ?

गं०—नहीं बेटी, ऐसा मत कहो, तुम सहस्र वर्ष तक अभी संसार में और रहो।

पृ०—बेटी, अभी तो तुझे इन बच्चों को पालना है।

सी०—मैं तो अनाथ हूँ, फिर इनका कौन होगा ?

रा०—रे वज्र-हृदय, अभीतक फटता नहीं !

गं०—तुम तो बेटी, सनाथ हो, फिर अपने को अनाथ क्यों कहती हो ?

सी०—मैं अभागिनी हूँ, सनाथ किस प्रकार हो सकती हूँ।

दोनों दे०—जगत की जब मंगल-कारिणी,
फिरहु क्यों अपको अपमानती।
विमल पाय लिये तुम संग कौं,
बढ़ति और हमार पवित्रता ॥८॥

ल०—(राम से) महाराज, सुनिये ये देवी क्या कह रही हैं ?

रा०—संसार सुने।

(नेपथ्य में कल-कल शब्द होता है)

रा०—बात तो कोई बड़े आश्चर्य की है।

सी०—अरे आकाश क्यों चमक उठा है !

दो० दे०—जान लिया—

जिनहि पाइ मुनीस कृशास्व सों,
सुभग सुन्दर कौसिक देव ने।
पुनि दिये मनभावन राम कों,
वर विचारि स्वशिष्य परम्परा।
लसत ये तब वे सब सस्त्र हैं,
अवसि जृम्भक सों युत जानिये।
करि विचित्र महा निज तेज जो,
प्रगट आइ भये अब ही यहाँ ॥९॥

(नेपथ्य में)

नमत हैं तुमकों सिरसा सिये,
हम मिले तुम पुत्रनि आजसों।
सुघर चित्र दिखावत हे जबै,
यह निदेस दियो रघुबीर ने ॥१०॥

सी०—अहो भाग्य ये सब अस्त्र देवता हैं। हा! आर्यपुत्र, तुम्हारे ही अनुग्रह से वे अब भी चमक रहे हैं।

ल०—(राम से) आर्य, आपने सीताजी से कहा भी था कि ये सब तुम्हारी सन्तान की सेवा में रहेंगे, वैसा ही हो रहा है।

दो०दे०—यह करत मंजु प्रनाम तुमकों सस्त्रदेव जु आज।
धनि धन्य हो जिनको गह्यो कर-कमल में रघुराज ॥
ये बाल जब चिन्तन करैं, तब दरस दीजो आन।
हम देत सब आसीस, नित नव होइ तुव कल्यान ॥११॥

रा०—लहि गंगमहि-पसाई बिसमै अपार आवै।
सुत जन्म-सफलता हू आनन्द हिय जगावै॥
इन सों गुही गुहाई करुना-तरंग भारी।
भरि छोभसों करै अब कैसी दसा हमारी॥१२॥

दो० दे०—भौज करो बेटी, इन दोनों पुत्रों को राम ही के समान जानो।

सी०—अच्छा, मा यह तो सब ठीक है किन्तु फिर इन दोनों का क्षत्रियोचित संस्कार कौन करेगा?

रा०—हा, जो बशिष्ठ-रक्षित, रघुवंस की निकाई।
श्री के समान सुन्दर, सब भाँति सों सुहाई॥
सुत-संस्कार-कर्त्ता, ता सीय ने न पायो।
कैसो प्रपंच बिधिना, ऐसो समै दिखायो!॥१३॥

गं०—बेटी, तुम इसकी चिन्ता न करो, दोनों बालक दूध छूटने के पीछे महात्मा वाल्मीकि को सौंप दिये जायँगे वही इनके क्षत्रियोचित कर्म को करेंगे।

जिमि महऋषी बसिष्ठ अरु, सतानन्द मतिवान।
तिमि गुरु रघु-निमिवंस के, बालमीकि भगवान॥१४॥

रा०—भगवती ने अच्छा विचार किया है।

ल०—आर्य, इन घटनाओं से मुझे बिलकुल निश्चय होता है कि ये लव कुश वही हैं क्योंकि:—

इन्हें जन्म सों सिद्धि अस्त्र तुम जानिये।
बालमीकि के शिष्य इन्हें ही मानिये॥
तुम्हारी ही अनुहार गये दोऊ धीर हैं।
बारह बारह बरस बैस के बीर हैं॥१९॥

रा०—वत्स, यह दोनों मेरे पुत्र हैं कि नहीं, इस सन्देह के कारण कुछ समझ नहीं पड़ता, इतना घबड़ा रहा हूँ।

पृ०—आओ बेटी, चलो अब रसातल को पवित्र करो।

रा०—हाय प्रिया तू रसातल चली गई!

सी०—मा, ऐसा करो कि मैं तुममें समा जाऊँ, मुझसे संसार के दुःख सहे नहीं जाते।

रा०—देखें क्या उत्तर देती हैं!

पृ०—दूध छूटने तक मेरे कहने से इन बच्चों की रक्षा कर, पीछे जैसा तुझे रुचे वैसा करना।

गं०—यह भी ठीक है।

(गंगा, पृथ्वी और सीताजी जाती हैं)

रा०—अरे क्या वैदेही पृथ्वी में समा गई! हा दण्डक-बन-वास की प्यारी सखी! सती शिरोमणि! हा कष्ट! मुझे अकेला छोड़ तू लोकान्तर को चली गई! हाय देवी हाय!

(नेपथ्य में)

(सब बाजों-गाजों को बन्द करो। अरे सब चराचर प्राणीमात्र, क्या मनुष्य और क्या देवता सब के सब देखो अभी भगवान

वाल्मीकिजी की आज्ञा से एक महान् अद्भुत और पवित्र घटना उपस्थित होती है।)

ल०—(देखकर) ओहो !

करत 'घर घर' घोर घूमत झाग देत अपार।
मनहुँ मंथन सों बिडोलति उठति गंगाधार॥
सकल सुर गंधर्व ऋषिमुनि यच्छ के समुदाय।
अन्तरिच्छ मझार छाये लखहु कौसलराय॥
गंग भुवि देवीन सँग भुवन-त्रय विख्यात।
उदति अब तिह सलिलसों आहा! सिया दरसात॥१६॥

(फिर नेपथ्य में)

[जय वसिष्ठ मुनि पत्नि अरुन्धति जगतवन्दिनी।
सौंपत तुमकों पुण्यव्रता मिथिलेस-नन्दिनी॥
काहू विधि की शंक न तुम अपने हिय आनौ।
हमहि वसुमती त्रिपथगामिनी निश्चय जानौ] ॥१७॥

ल०—अहा, क्या ही चमत्कार है देखो आर्य देखो, (देख कर) हा कष्ट ! आर्य तो अभी तक बेसुध ही पड़े हैं।

(अरुन्धती और सीता का प्रवेश)

अ०—तजि संकोच सकल निज बेटी जनकदुलारी।
आइ पर्यो कर्त्तव्य तिहारो करो शीघ्रता भारी॥
आओ अपनो मृदुलपानि अब रामसरीर छिवाओ।
जैसे बने जतन करि वैसे मेरो वत्स जियाओ॥१८॥

सी०—[भय से पास जाकर राम के शरीर पर हाथ फेरती हैं]

सावधान हो ! आर्यपुत्र, सावधान हो !!

रा०—[आँखें खोलकर आनन्द से] अहो, यह क्या है ?

[सीता को देख कुछ मुस्कराकर हर्ष और आनन्द से चकित]

आहा क्या है ? स्वप्न ? कि सचमुच ही वैदेही हैं ?

[फिर देखकर लाज से] क्या मेरी माता, भगवती अरुन्धती, शृङ्गीऋषि और शान्ता समेत सब बड़े-बूढ़े प्रसन्न हो रहे हैं ?

अ०—वत्स, ये देखो महाराज भागीरथ के कुल की देवता, सर्वदा अनुग्रहशील भगवती भागीरथी हैं ।

[नेपथ्य में]

[जगत्प्रभु रामचन्द्र स्मरण करो, तुमने चित्र देखने के समय कहा था कि हे गंगा माता ! तुम वधू सीता पर सर्वदा अरुन्धती के समान अपनी स्नेहमयी दृष्टि रखना सो मैं आज अपने ऋण से उऋण हो गई ।]

अ०—और ये बेटा, तुम्हारी सास वसुन्धरा हैं ।

[फिर नेपथ्य में]

आयुष्मन् तुमने सीता त्यागते समय कहा था कि भगवती वसुन्धरा तुम अपनी प्यारी बेटी जानकी को देखती रहना तुमको सौंपता हूँ सो तुम भूपति होने से मेरे स्वामी के समान और जमाता होने से मेरे पुत्र के समान हो इसलिए मैंने तुम्हारा कहना कर दिया ।]

रा०—मुझ जैसे महा अपराधी पर देवियों ने कैसे कृपा की ? मैं आप दोनों को प्रणाम करता हूँ ! (चरणों पर गिरते हैं)

[फिर नेपथ्य में]

दो० दे०—चिर जियो प्यारे, और कुटुम्ब सुख भोग करो ।]

अ०—प्यारे पुरवासीगण, इस समय जिस प्रकार भगवती भागीरथी तथा देवी वसुन्धरा ने इतनी बड़ाई करके मुझ अरुन्धती को सीता सौंप दी उसे तो आपने प्रत्यक्ष देख ही लिया, इसके पहले भगवान अग्निदेव द्वारा सीता के पुण्य-चरित्र की परीक्षा हो चुकी है। और अब भी देखिये ब्रह्मादिक देव इसके गुणगान कर रहे हैं। अब आप लोगों से पूछना यह है कि ऐसी पुनीत पतिव्रता यज्ञ से उत्पन्न हुई परम प्रसिद्ध सूर्यवंश की वधू सीता देवी को फिर ग्रहण करना उचित है या नहीं। इस विषय में आपकी क्या सम्मति है।

ल०—इस प्रकार भगवती अरुन्धती के धिक्कारने से लज्जित होकर अब तो पुरवासी तथा सब संसार के लोग महारानी के हाथ जोड़ रहे हैं, और इन्द्रादिक लोकपालों के साथ मरीचादि सप्तर्षि स्वनाम-धन्य सीताजी के सिर पर पुष्प बरसा रहे हैं।

अ०—जगदीश रामचन्द्र—

यह तुम्हारी सहधर्मिनी, प्रियाधर्म अनुसार।
परम प्रेम सों कीजिये, याकों अङ्गीकार॥
जो सुवरन की प्रतिकृती, लव ढिंग, ताके ठौर।
देउ पुण्य-प्रतिकृति, सियहिं, आसन-रघुकुल मौर॥२०॥

सी०—[आप ही आप] देखें आर्यपुत्र मेरा दुःख मेटते हैं या नहीं?

रा०—बहुत अच्छा भगवती का आदेश सिर माथे।

ल०—हम भी कृतार्थ हुए।

सी०—मैं तो जी गई।

ल०—महारानी यह निर्लज्ज तुम्हारे चरणों पर गिरता है।

सी०—वत्स तुम्हारी चिरायु हो !

अ०—भगवान् बाल्मीकि, सीता के गर्भ से जो रामचन्द्रजी के लड़के कुश लव हैं उन्हें भी ले आइये।

[जाते हैं]

रा० और ल०—अहा हमने ठीक विचारा था !

सी०—[आँखों में आँसू भरकर घबराई-सी] कहाँ हैं मेरी प्यारी जुगलजोड़ी (कुश लव के साथ बाल्मीकिजी का प्रवेश)

बा०—भैया कुश लव, यह रघुनाथजी तुम्हारे पिता हैं, यह लक्ष्मण तुम्हारे पिता के कनिष्ठ भ्राता हैं, यह सीता देवी तुम्हारी जननी तथा यह महर्षि जनक तुम्हारे नाना हैं।

सी०—(हर्ष, करुणा, आश्चर्य से देखकर) क्या यहाँ तात जनक भी हैं।

कु० ल०—हा तात, हा माता, हा नाना !

रा० ल०—(हर्ष से कुश लव को गले लगा के) निस्सन्देह बेटा तुम दोनों बड़े भाग्य से मिले हो।

सी०—आओ मेरे दोनों लाल, आज तुम्हारी मा का नया जन्म हुआ है, आओ बेटा मेरी छाती से लग जाओ (दोनों को छाती से लगाकर रोती है)

कु० ल०—(मिलकर) हम दोनों धन्य हैं।

सी०—(बाल्मीकि की ओर) भगवान् तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ !

बा०—ऐसी ही सकुटुम्ब सुख भोगती चिरायु हो।

सी०—आहा ! तात, जनक, कुलगुरु वशिष्ठ, सास कौशिल्या जी पति के सहित शान्तादेवी, लक्ष्मण और आर्यपुत्र के

त्रयतापहरण चरणारविन्दों के संग प्यारे कुश लव भी दिखाई पड़ते हैं आज अपने भाग्योदय को देखकर शरीर आनन्द से फूला नहीं समाता ।

बा०—(उठकर देख के) लीजिए लवणासुर को मार मथुरेश्वर शत्रुघ्न भी आगये ।

ल०—जब अभ्युदय होता है तब कल्याण की सब बातें एक साथ ही मिल जाती हैं ।

रा०—सीता की प्राप्ति, पुत्रों का दर्शन और लवणासुर का वध आदि कल्याणों का इस समय अनुभव कर रहा हूँ तो भी न जाने क्यों मुझे प्रतीत नहीं होती, ऐसा मालूम होता है मानो मैं स्वप्न देख रहा हूँ अथवा जब अभ्युदय का तार बँध जाता है तब ऐसा ही जान पड़ता है ।

बा०—प्यारे रामचन्द्र कहिए आपका और क्या प्रिय करें ।

रा०—इससे अधिक अब क्या मनोरथ होगा, तथापि—

कलिमलकुल दूर करनि श्रेयद, मन-मोद भरनि,
गाथा यह दुःख-दरनि, पुण्य-रासिनी ।
मंगलमय जगमगाय, भुवन मोहिनी सुहाय,
जग की अनु गंग माय, ताप-नासिनी ।
शब्द-ब्रह्म को प्रकास जिह कवि उर करत बास,
तिह सुमोद-सुधिबिलास, मुदविकासिनी ।
अभिनय कृत-भासमान, चरितामृत बिसद जान,
सत् जन यह करहिं पान, हिय बिलासिनी ॥२१॥

(सब जाते हैं)

॥ इति उत्तर-राम-चरित नाटक ॥

शब्दार्थ-प्रदीप

(इसमें कुछ असाधारण शब्द मुख्यकर पद्य के उन शब्दों का स्वरूप तथा अर्थबोध कराया गया है जो प्रायः व्रज की बोली में प्रचलित हैं।)

पृष्ठ १—कवि-मग-दरसावन = आदि कवि बाल्मीकि। रामचरित-नित-नव-रसाल-पिक = राम के नित नये चरित्र रूपी आमों में रहने वाली कोयल। शब्द-मूर्ति-धर-ब्रह्म = जो ब्रह्म अनुभव में नहीं आवे केवल शब्दों में वर्णन होता है। षट्पदी = भ्रमरी, सरस्वती, छप्पय छन्द।

पृष्ठ २—पौलस्त्य-कुल-धूम केतु = पुलस्त की संतान के लिए अग्नि-स्वरूप। बिरुदावली = कीर्ति। चारण = भाट। सत्कारार्थ = स्वागतार्थ।

पृष्ठ ३—परतीत = प्रतीति। अनल परीच्छहु = अग्नि-परीक्षा।

पृष्ठ ४—अभिनन्दन = स्वागत। द्यौस = दिवस (दिन)। उच्छव = उत्सव।

अंक १

पृष्ठ ५—गृही = गृहस्थ। कारमिक = कर्म करने वाला।

पृष्ठ ६—अष्टावक्र = एक विद्वान ऋषि थे, यह आठ जगह से वक्र (टेढ़े) थे।

पृष्ठ ७—अनुधावत = पीछे दौड़ता है।

पृष्ठ ८—बिथा = व्यथा, दुःख।

पृष्ठ ९—मनभावत = मनोरथ। अजोग = अयोग्य।

पृष्ठ १०—जृम्भकास्त्र (जृम्भकास्त्र) एक अस्त्र जिसके चलाने से शत्रु नींद ग्रसित हो जँभाई लेने लगते हैं। अमंद = बिना रुके।

प्रभासित = प्रकाशित । अभिराम = सुन्दर ।

पृष्ठ ११—सगुन सायत = शुभ घड़ी मुहूर्त । कंकन = विवाह के समय जो सूत्र हाथ में बाँधा जाता है ।

पृष्ठ १२—समागम = भेंट ।

पृष्ठ १३—भोइ गई = अचेत होगई । परिरम्भन = आलिङ्गन ।

पृष्ठ १४—यतिनु-आसरम = तपस्वियों के आश्रम । अतिथेय = अतिथि-सत्कार करने वाला । प्रस्रवणाचल = प्रस्रवण नाम का पर्वत । सुरति = स्मृति ।

पृष्ठ १५—प्रतिकार = बदला । सालत = दुख देता है, छेदता है । बिजन बन = निर्जन जंगल । बज्रु हियो = वज्र-हृदय । हिय-मरम-घाय = हृदय पर घाव करने वाली ।

पृष्ठ १६—उन्मुक्त कण्ठ = धाड़ मारकर । ढरे = ढलने लगे ।

पृष्ठ १७—पुहुप = पुष्प ।

पृष्ठ १८—कनिकान = बूँदों । इन्दु-मयूख = चंद्रमा की किरन । विचुम्बित = चुम्बन की हुई, छुई हुई ।

पृष्ठ १९—निहचै बैठति नाहि = ठीक ठीक समझ में नहीं आता । प्रबोध = जागृत अवस्था । थिर = स्थिर । तृप्ति सुधा = तृप्ति रूपी अमृत । सिराहनो = तकिया ।

पृष्ठ २०—सुख-संजोग = सुख मिलना । जनापवाद = लोगों द्वारा निन्दा ।

पृष्ठ २१—विराम = विश्राम । लच्छनमय = लक्षणवाली । जरठाई = बुढ़ापा । सघन = घना । परनत = प्रणत ।

पृष्ठ २२—बुरी चबाउ = निन्दा । अतुल = अतोल । कूकर = कुत्ता । धिक्कार = लानत देना ।

पृष्ठ २३—निरत = लगाहुआ । परतीति = प्रतीत । निष्ठुर = निर्दय । मोदजई = आनन्द पैदा करने वाली । सनेह = (स्नेह) । छई = पूरित ।

पृष्ठ २४—श्रीखण्ड = चन्दन । वृथा = व्यर्थ ।

पृष्ठ २५—हियरा = हृदय ।

पृष्ठ २७—कारज=कार्य । अठयाम = अष्टयाम । असीस = अशीष ।

अंक २

पृष्ठ २८—अर्घ = षोडशोपचार में के एक; जल, दूध, दही सरसों, कुशाग्र, तंदुल और जौ मिलाकर देवता को देना । छाँहरि में बिरमाउ = छाँह में ठहरो । फराहर = फलाहार । काऊ = किसी दूसरे का ।

पृष्ठ २९—वृत्ति = स्वभाव । अगार पिछार = आगे पीछे । बिजै = विजय । निवसत = रहते हैं । जगमधि=जग में । पारायण = आद्योपान्त ।

पृष्ठ ३०—शैशव अवस्था = बालपन । अर्पण किये = दे दिये । मुग्ध = मोहित ।

पृष्ठ ३१—वितरन = बाँटते हैं । किरन आभास = प्रकाश । ढेल = ढेला । अनुष्टुप=८-८ के विराम से २४ अक्षर का संस्कृत छंद । वाग्देवी= सरस्वती, वाणी । विहरत = विहार करते हैं । स्वच्छंद = स्वतंत्र ।

पृष्ठ ३२—पद्मयोनि = ब्रह्मा । ब्रह्मप्रकाशधारी = ब्रह्मज्ञानी । अन्तर्धान = छिपना, अदृश्य हो जाना । पल्लवित = पल्लव (पत्ते) आ जाना । प्रस्रवणाचल = प्रस्रवण नाम का पर्वत । जनस्थान=दण्डकवन ।

पृष्ठ ३४—सूनी = (शून्य) खाली। हियो = हृदय। जगत = जगत्। अभिमंत्रित = मन्त्रों द्वारा पवित्र किया हुआ।

पृष्ठ ३५—अकालमृत्यु = असमय का मरना। खरारी = राम, खर नाम के राक्षस का बैरी। कपोत-पुंज = कबूतरों का समूह।

पृष्ठ ३६—छाँहरि = छाया। गंडस्थल = कपोल, कनपटी। घमीले = धूप के मारे हुए। कूलद्रुम = किनारे के पेड़। ज्यावन = जिन्दा करने को। कृपान = तलवार। विजन = निर्जन। नृशंस = निर्दय।

पृष्ठ ३७—रखत = बचाते हैं। तारिनी = संसार-सागर से पार करने वाली। ध्रुव प्रकाश = ध्रुवतारे का उजेला। त्रायक = रक्षक। गरुड़ध्वज = विष्णु। शरण्य = शरण देने वाले। भावन = रुचिर।

पृष्ठ ३८—औध = (अवध) अयोध्या। सस्य = अनाज। झर-झर निनाद = झर-झर शब्द करते हुए। गर्भ-कानन = जंगल का भीतरी भाग।

पृष्ठ ३९—विंध्याटवी = विंध्यादेवो का जहाँ पर स्थान है उसके आसपास का जंगल। माहित = मालूम।

पृष्ठ ४०—कमनीय = सुन्दर। सरीखे = समान। क्रीड़ास्थली = खेलने की जगह। हीतलभावै = हृदय को अच्छी लगती है। जम्बु = जामुन।

पृष्ठ ४१—गिरिगूँज = पर्वत की गुंजार। कसाय = कसैली। अक्षयलोक = वैकुण्ठ। फलहार = फलाहार। नाये = नहीं थे।

पृष्ठ ४२—परन = (पर्ण) पत्ते। झालरे = घने फैले हुए।

पृष्ठ ४३—चिर-संतापज = बहुत दिनों के संताप से उत्पन्न। सकल =

बर्छे की अनी। सरित्स्रोत = नदी का स्रोत। पुलिन = रेत, बालू। विरल = बिरला (कोई कोई)। बिसवास ये दृढ़ावै है = पक्का विश्वास दिलाते हैं।

पृष्ठ ४४—उद्दीपन = दीप्तकारक।

पृष्ठ ४५—बाट देखना = प्रतीक्षा करना। मूक = चुप। सरप-दरप = सर्प का अभिमान। सिकुर = सिमट कर।

पृष्ठ ४६—नदति = शब्द करती है। उतङ्ग = ऊँची। खाय चपेट = टक्कर खाकर।

अङ्क ३

पृष्ठ ४७—धातु-पुट पाक = धातु को सरवों में रखकर वैद्य लोग अग्नि में जला कर दवा बनाते हैं।

पृष्ठ ४८—सरि-सीकरनु-सीतल = नदी के छींटों से शीतल की हुई। प्रसव = सन्तान का उत्पत्ति काल।

पृष्ठ ५०—ओप = आभा। मोचति = बहाती है। सोगसनी = शोक से भरी हुई। बिलुनित = लुची हुई। घाम = धूप। ललित = सुन्दर। सल्लकी परनानि = शल्लकी के पत्ते। करभक = हाथी के बच्चे। लहकात = मोड़ता है।

पृष्ठ ५१—कुललि = कूदकर। रूरि = हमला करके। धाराधर = बादल। अस्फुट = अस्पष्ट।

पृष्ठ ५२—ठाम = स्थान।

पृष्ठ ५३—कल्यानि = कल्याण करने वाली। सुपरस = सुन्दर स्पर्श।

पृष्ठ ५४—किधौं = या तो। सार = तत्व। संतप्त = तापित। संजीवनी = सञ्जीवनी बूटी।

पृष्ठ ५५—कोरा = खाली, बनावटी। बज्रमयी = कठोर हृदया।

पृष्ठ ५६—दुचिताई = दुविधा। परसिबो = छूना।

पृष्ठ ५७—जटायुगिरि = वह पर्वत जहाँ जटायु गृद्ध रहता था।

पृष्ठ ५८—कलित कलिकन सन = सुन्दर कलियों के समान। लवलि पल्लव = लवलि के पत्ते। कानन लोर = कानों की ओर। बारन = हाथी। यौवन छयौ = यौवन छाया हुआ है। बिथुराइ = बखेर कर। छत्तुरी = छाता।

पृष्ठ ५९—संसारिणी = वह जो संसारी माया में लिप्त हो। स्नेहातिशय = अत्यन्त प्रेम। गुन = रस्सी।

पृष्ठ ६०—कलोलत = किलोल करता है। सिखाएँ = चोटियाँ। अलापत = शब्द करता है। भ्रम्यौ फिरकैयनु लै = चारों ओर घूमा। दृगञ्चल = पलक। नीप = कदम्ब का पेड़।

पृष्ठ ६१—पहारी = पहाड़ी। नतैतो = नातेदारी, सम्बन्ध। बिहाई = छोड़कर।

पृष्ठ ६२—नयनोत्सव प्रद = आँखों को आनन्द देने वाला। गुन-आगरी = बढ़ते हुए गुन वाला। पीयरो = पीला। बिगत अञ्जन = अञ्जन रहित। अभिसेचन = अभ्यर्थना।

पृष्ठ ६३—चहूँधा = चारों ओर। नीवार = धान। पादप = वृक्ष। विदीरन = फाड़ना, विदीर्ण करना। साल सालत=दुख देता है। व्याज-स्तुति=झूँठी प्रशंसा, प्रशंसा के बहाने से बुराई।

पृष्ठ ६४—उतर = (उत्तर)। विलोल = चञ्चल। दुचन्द=दूनी। बिनासि = मार डाली। उमहि = उमड़ कर। प्रतिक्रिया = बदला। रुदन = रोना। सदुपाय = अच्छा उपाय।

पृष्ठ ६६—दौं = आग।

पृष्ठ ६७—अनिवार्य = न रुकने वाला। बाम = स्त्री। अनी = नोंक। विषलीन = विषैली। बिथा = व्यथा।

पृष्ठ ६८—क्षुभित = दुखदाई, क्षोभ पैदा करने वाली। विचंचल = चंचलित। हिलोर = आवेग। सिकता = रेतु। दुर्निवार्य = जो टाली न जा सके। दुस्सह दुःखावेग = असह्य दुःख। स्तंभित = जकड़ा हुआ।

पृष्ठ ६९—दरसावै = दीखता है। तनबन्धन = शरीर के जोड़। मोहावृत = मोह से घिरा हुआ। बेसुध = अचेत।

पृष्ठ ७०—अमिय मय लेप = अमृत के समान सुख देने वाला लेप। औचक ही = अचानक ही। जड़ीभूत = जड़ पदार्थ के रूप में।

पृष्ठ ७१—लवली दल = लवली के पत्ते। स्वेदमय = पसीना से भरा हुआ। सन = से। मन-मुदि-दान = मन को आनन्द देने वाली।

पृष्ठ ७२—श्रम-सीकर-कन = पसीना की बूँद। पिय-तन-परस = स्वामी के शरीर को छूकर। मुकलित-कलित = कलियाई हुई, सुन्दर। डहडही डार = घनी हरी-भरी डाली।

पृष्ठ ७४—अपनोद = हटाने में। अविदित-बिथा कर = अज्ञात आपत्ति का। शत्रुदल-बधलों = रावण की मृत्यु तक। निरवधि = सीमा रहित। प्रभंजन-कुमार = हनूमान। अकूत = अपार। लछिमनवीर = लक्ष्मण जी। शोकोद्दीपन = शोक बढ़ाने का।

पृष्ठ ७५—अड़े = जैसे के तैसे, प्रण करके रहना। मेघाच्छन्न = बादल से घिरा हुआ।

पृष्ठ ७६—बुदबुद = बुलबुला। अनी = कही।

अंक ४

पृष्ठ ७७—माँड़ = उबले हुए चाँवलों का पानी। महँक = सुगन्धि। डढ़ियल = डाढ़ीवाले।

पृष्ठ ७८—गोवत्सरी = बछिया। महोक्ष = बैल। महाज = बड़ा बकरा। मधुपर्क = दही, घी, जल, शहद और चीनी का योग। श्रोत्रिय अभ्यागत = वेद जानने वाला अतिथि। प्रवृत्ति मार्ग = संसार के कामों से लगाव रखते हुए। निवृत्तिमार्ग = विरक्त। सापवाद परित्याग = बुराई लगा कर त्याग देना।

पृष्ठ ७९—पारंगत = वेद को आद्योपान्त जानने वाले। दौं = अग्नि। पराकसान्तपन = एक प्रकार का व्रत जो चार दिन तक निरन्न रह कर किया जाता है। निरन्न = ऐसा व्रत जिसमें अन्न न खाया जाय।

पृष्ठ ८०—आत्मघात = अपने आप मरना। अन्धतामिस्रादि = घोर अँधेरा रहता है जिन नरकों में। कल = सुन्दर। दसनावली = दाँतों की पंक्ति। कंजमुख = कमल-सा मुँह।

पृष्ठ ८१—कमला सरिस=लक्ष्मी के समान। सरिस=समान। साच्छात्=ज्यों की त्यों। मिथिलाधिपति = राजा जनक। शोकाकुल = शोक से व्याकुल।

पृष्ठ ८२—सीरध्वज=सीता के पिता का नाम। कृतकृत्य = धन्य-धन्य।

पृष्ठ ८४—नृप अछत = राजा को उपस्थिति में। विमूढ़ = मूर्ख। अभिन्नउर = एक ही हृदयवाले। मध्यस्त = बिचौलिया।

पृष्ठ ८५—पूर्न = पूरा, पूर्ण। कर्णामृत गुप्तरहस्य = कानों के लिए

अमृत समान छिपा हुआ भेद। चख=(चक्षु) आँखें। सिरी=(श्री) शोभा। बिसिख = बाण।

पृष्ठ ८७—रुद्राछी=रुद्राक्षी। लसै=दील पड़ता है। निकाई= शोभा। सूछम = सूक्ष्म, छोटा। अजान=अज्ञानी। नन्ह = थोड़ा। खैंचतु बरिआई=हठात् अपनी ओर खींचता है। आरबल = आयु।

पृष्ठ ८८—पद्म-गर्भगतदल=कमल के भीतर की पत्तियाँ।

पृष्ठ ८९—उनहारि = समान। प्रतिबिम्बित=प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है।

पृष्ठ ९३—अपमानित मान धनी=निरादर किया हुआ यशस्वी। जरठ=बूढ़ा।

पृष्ठ ९४—सुम्म=पैर। परबस=अनिश्चित।

पृष्ठ ९५—पराभव=हार। ललकार=चैलेंज, चुनौती।

पृष्ठ ९६—धुजा=(ध्वजा) निशान।

पृष्ठ ९७—जीह=(जिह्वा) जीभ। तनत=खिंचता है।

अंक ५

पृष्ठ ९८—हक्का=धक्का। सिञ्जनि=डोरी। उलहावै=पैदा करे।

पृष्ठ ९९—धृत-धनु=धनुष धरे हुए। घनश्याम=घने बादल के समान श्याम। कुसिकसुत-मख-रिपुनि प्रमथत = कौशिक के पुत्र विश्वामित्र के यज्ञ के बैरियों को मारने वाला। खन=क्षण। रोदा=धनुष की डोरी। रव=शब्द।

पृष्ठ १००—बिथुरावैं=फैलाये देता है। हँस बुझावहु जीय= दिल के अरमान निकालो। मुरत=मुड़ता है। लसत=शोभित। सदरप=(सदर्प) अभिमान के साथ। अथोर=बहुत।

पृष्ठ १०१—कसौटी = खोटा खरा सोना देखने का पत्थर।

पृष्ठ १०२—पाक-सासन = इन्द्र। पदाति = पैदल। चौंधियात = चकाचौंध होता है।

पृष्ठ १०३—रसातल-गरभगत-कुञ्जनि = पृथ्वी के भीतर गुफाओं में। पुञ्जित-तिमिर = इकट्ठा किया हुआ अँधेरा। पिङ्गल=पीला। पीतर-तपत = तपी हुई पीतल के समान।

पृष्ठ १०४—कपिल रङ्ग = काला रङ्ग। धाराधर = बादल। कृशाश्व = दक्ष के जामाता। उमगे = पैदा हुए।

पृष्ठ १०५—मुख मोरत = मुँह मोड़ता है।

पृष्ठ १०६—अनुमोदन = समर्थन करना।

पृष्ठ १०७—मरजाद = मर्यादा, सीमा। छवि छीन = भद्दा।

पृष्ठ १०८—ककुत्स्थ = इक्ष्वाकुवंशीय एक राजा। सविता=सूर्य।

पृष्ठ ११०—दरप = दर्प, अभिमान। लुँज = हाथ पैर विहीन। लोनी = सुन्दर। कामदुहा = कामधेनु। आर्ष = ऋषि-प्रणीत, वैदिक। परख = परीक्षा।

पृष्ठ ११२—सुन्द-तिय = ताड़का। बालनिधन = बालि के वध में। कोपज = क्रोध से पैदा। चिकुर = ठोढ़ी। उग्र ओप वारे = तीव्र आभा वाले।

अंक ६

पृष्ठ ११३—कनित = शब्द करता हुआ। किंकनी = कोंधनी। गुन = डोरी। मधि = में।

पृष्ठ ११४—पिंगल-वर्ण = पीला रङ्ग। जोतिर्मय = प्रकाशित। विसकर्मा = (विश्वकर्मा) आग्नेयास्त्र=जिसके चलाने से अग्निवर्षा होती है। झर्प = लपट।

पृष्ठ ११५—आनन्दोल्लासित = आनन्द में मग्न। जीवन-मूरि = सञ्जीवनी नाम की बूटी।

पृष्ठ ११६—जगत = जगते ही।

पृष्ठ ११७—परसाउ = स्पर्श कराओ। प्रशस्त = उत्कृष्ट। औतर्यो = अवतार लिया।

पृष्ठ ११८—चन्द्रकान्त मनी = चन्द्रकान्त मणि।

पृष्ठ ११९—गर्भदल अनुहार = गर्भ के पत्तों के अनुसार। परस = स्पर्श। घनसार = कपूर। अमंद = सुन्दर।

पृष्ठ १२०—प्रकृति-जन्य सुभाव = स्वाभाविक। अविरत = निरंतर। सूर्यमनि = सूर्यकान्तमणि।

पृष्ठ १२१—अथोर = बहुत। भेव = भेद, रहस्य। अधिराज = प्रधान राजा, चक्रवर्ती। इन्द्रमनी = नीलम।

पृष्ठ १२२—निनाद = शब्द। दिव्यायुध उग्र = वह बाण जो देवताओं से प्राप्त हों और कठोर हों। अचला = पृथ्वी। वेद रत्नाकर = वेदरूपी समुद्र!

पृष्ठ १२३—पुण्यदर्शन = जिनका दर्शन पुण्य से मिलता है या जिनके दर्शन से पुण्य होता है।

पृष्ठ १२४—अवलम्बन = सहारा। रम्य = सुन्दर।

पृष्ठ १२५—बिलच्छन = विचित्र (विलक्षण)। कमनाई = शोभा। अलोल = स्थिर।

पृष्ठ १२६—कटाच्छन = तिरछी चितवन। ठगोरी = वह निगाह जो मोह लेती है। युग्म = जोड़ा। द्यौस = दिवस।

पृष्ठ १२७—नीर-कन = पानी की बूँद। हीतल = हृदय। रविकुल-कीर्ति-प्रभा-विस्तारिणी = सूर्य-कुल की यश-रूप धूप फैलाने वाली।

पृष्ठ १२८—सिय ही=सीता थी। सो हे=सो थे। हिय को हिय में भायो = हृदय में ही अनुभव किया कह नहीं सकते। हृदय मर्मच्छिद= हृदय के मर्मस्थान को छेदने वाले, अत्यन्त कष्ट-प्रद। अमंद = उज्ज्वल। मनोविनोद = मनबहलाव। बिरमाय = विश्राम, ठहरा है।

पृष्ठ १२९—जोम = उमङ्ग, जोश, घमण्ड।

पृष्ठ १३०—निराभरन = भूषणों के बिना। जीरन = जीर्ण। सिसुकलह = बच्चों की लड़ाई।

पृष्ठ १३१—मातहु = माता भी।

अङ्क ७

पृष्ठ १३२—आरज-बंस = आर्य-वंश।

पृष्ठ १३३—आर्ष = प्राचीन। बोधन-शक्तिशालिनी = ज्ञान कराने वाले शब्द।

पृष्ठ १३४—नीर निसारति = आँसू निकालती है। बिसवास = विश्वास। जने = पैदा किये।

पृष्ठ १३६—अयोनिजा = जो मनुष्ययोनि से पैदा न हुई हो। जोग = योगविद्या। जनक = पिता। हुतासु = अग्नि। बल छीन = दुर्बल। लरकबुद्धि = बालकों की-सी बुद्धि, वे समझी।

पृष्ठ १३७—अपकीरति = अपकीर्त्ति। पावचबाहन = पीठ पीछे बुराई करने वालों की निन्दा से।

पृष्ठ १३६—सिरसा = सिर से । सुघर = सुन्दर ।

पृष्ठ १४०—गंग-महि-प्रसादै = गङ्गा और पृथ्वी का आशीर्वाद। छोभ सों = दुख से । निकाई = शोभा ।

पृष्ठ १४१—जन्म-सिद्ध = स्वाभाविक । लोकान्तर = स्वर्ग ।

पृष्ठ १४२—विडोलत = चंचल । अन्तरिच्छमझार = आकाश के बीच में । जगतवन्दिनी = संसार से पूजी जाने वाली । छियाओ = स्पर्श करो ।

पृष्ठ १४६—कलिमल-कुल दूर करनि = पापों के समूह को दूर करने वाले । मुदाविकासिनी = आनन्द देने वाली ।

———